Feb 1973

255

बोधिवृक्ष मौलिश्री

वहां बोध कहां ?
जहां कामना का स्वप्न-वृक्ष
कल्पना का कल्पतरु ही सींचा है अब तक!
तुलसी के नीचे शालिग्राम बैठे पाषाणवत्
तन उपवन के चंदन को —
खोजा है ऋषियों ने
हुए सिद्ध पुरुष
जिन्हें पीपल में बरम (ब्रह्म) का
हुआ दर्शन
पाया ज्ञान का शीतल-संरक्षण
सहस्त्रबाहु बरगद से

बुद्ध हुए जाग्रत
कृष्ण और कदम्ब का
सम्बन्ध बचपन का
मौलिश्री के तले रजनीश प्रभु बने ?
या रजनीश से मुखरित हुई 'मौलिश्री'!
रजनीश की पर्यायवाची बनी
मौन की मौनश्री, बोधश्री, ज्ञानश्री
जननी मौलिकता की
शीतलता ज्ञान की
वाह री मौलिश्री !
धन्य-धन्य मौलिश्री !!

अवधेश श्रीवास्तव 'मित्र'
बिनेकी (सिवनी म. प्र.)

भगवान रजनीश की सृजनात्मक
युग क्रांति दर्शन की मासिक
संकलन पत्रिका

फरवरी १९७३

युगान्तर

वर्ष – ४ अंक – १५ : १६

मूल्य एक प्रति : १-०० रु.
„ वार्षिक : १२-०० रु.

युक्रान्द

फरवरी '७३

— मानसेवी सम्पादक मण्डल —

अरविन्द कुमार

सुश्री डा. उर्मिला ✱ 'आकुल' राजेन्द्र

आलोक पाण्डे

व्यवस्थापक : स्वामी धर्म सरस्वती

अनुक्रमणिका

कृष्ण का दर्शन : एक दृष्टि	३	मा योग मीरा, जूनागढ़
स्व-जागृति : एक मूल मंत्र	४	भगवान श्री की बोध कथाओं से
आनन्द के नये आयाम (एक प्रवचन)	५	संकलन : स्वामी धर्मस्वभाव, दिल्ली
सम्यक्-त्याग, सद्गुरु-सेवा और सत्संग के आंतरिक रहस्य (एक आंशिक प्रवचन)	२६	संकलन एवं संपादन : स्वामी चैतन्य भारती
मैं, धर्म और रजनीश	३९	स्वामी निर्मल आनंद भारती
साहित्य : समय की धार पर (प्रश्नोत्तर वार्त्ता)	४०	संकलन : स्वामी अगेह भारती
ब्रह्मचर्य...? : जीवन और साधना (प्रश्नोत्तर वार्ताओं से)	५५	भाव संकलन : अरविंदकुमार
ऐसा न सोचा था	६२	संचयन : 'आकुल' राजेन्द्र

गीत : काव्य

अद्भुत योगी	२३	साधु कृष्ण वेदांत, सुरेन्द्रनगर
नया रूप बनकर अरूप मिटता जाता हूं	२४	योग अशेष, रतलाम
मन के पार	२५	साधु योग प्रीतम, भीलवाड़ा
भगवान रजनीश के प्रति	३८	स्वामी अगेह भारती, जबलपुर
मैं औगुनिया	५४	'आकुल' राजेन्द्र, जबलपुर

स्वत्वाधिकारी प्रकाशक : अरविन्द कुमार, ७९०, राइट–टाउन, जबलपुर.

मुद्रण : अशेष प्रिंटर्स, ७८१, राइट-टाउन, जबलपुर. ☎ 2957 P.P.

कृष्ण का दर्शन : एक दृष्टि

संकलन : *मा योग मीरा*

जूनागढ़

- कृष्ण संघर्ष खड़ा नहीं करते, लेकिन संघर्ष अगर आ ही गया, तो वे टालते भी नहीं। कृष्ण का जीवन संघर्ष, संघर्ष और सतत संघर्ष में बीता, फिर भी उनके निजानंद में कोई अंतर नहीं पड़ता और वही उनकी गरिमा है।
- कृष्ण कहते हैं, जब कोई व्यक्ति आत्म स्थिति को उपलब्ध होता है तब योग-क्षेम के फूल खिल जाते हैं। सवाल यह नही है कि हजारों आँखें कृष्ण से आकर्षित थी, सवाल है उन दो आँखों का जो सबको आकर्षित करती थीं। निश्चित ही, कृष्ण की आँखें बड़ी असाधारण रही होंगी !
- कृष्ण का कहना है कि कर्म योगी के लिये कर्म ही फल है।
- कृष्ण की शक्ति का मतलब है—ऊर्जा, जो किसी पद से नहीं; लेकिन सब पदों से हटकर मिलती है।
- कृष्ण की प्रज्ञा तो स्थिर है, लेकिन जीवन प्रतिपल बहता है।
- कृष्ण के लिये सब शाश्वत वर्तमान है। सामने जो भी क्षण आता है; उसी में पूरे उतर जाते हैं।
- ऐसा ही हुआ है बहुत बार कि बुद्धिमान लोग जो नहीं कह पाते, ऐसी बहुत सी बातें कृष्ण ने बड़े गहरे व्यंग में कह दी हैं। और कृष्ण जैसे लोग जब मजाक करते हैं तब गहरे ही होते हैं। कभी-कभी कृष्ण जैसे लोग के व्यंग समझने में सदियां लग जाती हैं।
- कृष्ण अर्जुन के तल पर खड़े होकर बातें करते हैं, न गुरु भाव है, न कोई और, बड़ी सहज, सरलता से अर्जुन को ऊपर उठा रहे हैं। शायद अर्जुन को भी पता चला होगा !
- कृष्ण के संदर्भ में यही बुनियाद है कि पाने के लिये करना पाप है, अधर्म है। जो आदमी दिन में एक कर्म भी ऐसा करले जिसमें अपनी कोई मांग नहीं है, कर लिया और चल पड़े बस—वही आदमी कृष्ण की गीता को समझ पाता है।

स्व-जागृति | एक मूल मंत्र

जैसा आप चाहते हों कि दूसरे हों, वैसा अपने को बनावें। उनको बदलने के लिए स्वयं को बदलना आवश्यक है। अपनी बदल से ही आप उनकी बदलाहट का प्रारम्भ कर सकते हैं।

●

जो स्वयं जाग्रत है, वही केवल अन्य का सहायक हो सकता है। जो स्वयं निद्रित है, वह दूसरों को कैसे जगायेगा ? और जिसके भीतर स्वयं ही अंधकार का आवास है, वह दूसरों को प्रकाश का स्रोत कैसे हो सकता है ?

निश्चय ही दूसरों की सेवा स्वयं के सृजन से ही प्रारम्भ हो सकती है। **पर-हित स्व-हित के पूर्व असम्भव है।** कोई मुझसे पूछता था : "मैं सेवा करना चाहता हूं।" मैंने उससे कहा : "पहले साधना, तब सेवा। क्योंकि, जो तुम्हारे पास नहीं है, उसे तुम किसी को कैसे दोगे ? **साधना से पाओ, तभी सेवा से बांटना हो सकता है।**" सेवा की इच्छा बहुतों में है, पर स्व-साधना और आत्म-सृजन की नहीं। यह तो वैसा ही है कि जैसे कोई बीज तो न बोना चाहे लेकिन फसल काटना चाहे ! ऐसे कुछ भी नहीं हो सकता है। किसी अत्यन्त दुर्बल और दरिद्र व्यक्ति ने बुद्ध से कहा : "प्रभु मैं मानवता की सहायता के लिये क्या करूं ?" वह दुर्बल शरीर से नहीं, आत्मा से था और दरिद्र धन से नहीं, जीवन से था। बुद्ध ने एक क्षण प्रगाढ़ करुणा से उसे देखा। उनकी आंखें दयार्द्र हो आईं। वे बोले केवल एक छोटा-सा वचन, पर कितनी करुणा और कितना अर्थ उसमें था ? उन्होंने कहा : "क्या कर सकोगे तुम ?" 'क्या कर सकोगे तुम ?' इसे हम अपने मन में दुहरावें। वह हमसे ही कहा गया है। सब करना स्वयं पर और स्वयं से ही प्रारम्भ होता है। स्वयं के पूर्व जो दूसरों के लिए कुछ करना चाहता है, वह भूल में है। स्वयं को जो निर्मित कर लेता है, स्वयं जो स्वस्थ हो जाता है, उसका वैसा होना ही सेवा है।

●

सेवा की नहीं जाती। वह तो प्रेम से सहज ही निकलती है। और प्रेम ? प्रेम आनन्द का स्फुरण है। अन्तस् में जो आनन्द है, आचरण में वही प्रेम बन जाता है।

आनंद के नए आयाम

सामान्यतया हम सोचते हैं कि आनंद कभी मिलेगा, क्योंकि हमारे भीतर कहीं यह धारणा बैठी है कि आनन्द को कहीं से हमें उपलब्ध करना है, कहीं जाकर पाना है। किन्तु, आनन्द कोई प्राप्ति नहीं हो सकता, आनन्द कोई उपलब्धि नहीं हो सकता। आनन्द तो एक आविष्कार है जो इसी क्षण, अभी और यहीं—हो सके तो हो सकता है। कल पर उसे नहीं छोड़ा जा सकता। महावीर, बुद्ध, क्राइस्ट और कन्फ्युशियस आदि महात्माओं का तो यही जानना है कि आनन्द अभी और यहीं आविष्कृत हो सकता है। वह हमारे भीतर है, वह हमारे साथ है, केवल उघाड़ने के विज्ञान को जानने की बात है।

अपने भीतर कुछ आविष्कार करने की, कुछ ढका है उसे अनढका करने की बात है। इस विज्ञान को ही मैं धर्म कहता हूं।

(भगवान श्री द्वारा ९ सितम्बर १९६४ को ताराबाई हाल, बम्बई में दिया गया एक प्रवचन।)

साइन्स, पदार्थ के भीतर जो छिपा है उसे उघाड़ती है, धर्म चैतन्य के भीतर जो छिपा है उसे उघाड़ता है। साइन्स पदार्थ के भीतर विश्लेषण करती है, खोज करती है और अन्त में पदार्थ की जो शक्ति है उसका आविष्कार करती है। धर्म चेतन के भीतर जो प्रषुप्त है, उसकी खोज करता है, और अन्ततः उसके भीतर जो निहित है उसका आविष्कार करता है। विज्ञान अपनी खोज के अन्त पर अणु पर पहुंच गया है, धर्म अपनी खोज के अन्त पर आत्मा पर पहुंच जाता है। विज्ञान की अंतिम शोध का परिणाम अणु है, अणु की शक्ति है और आज हम जानते हैं कि इसी अणु की शक्ति ने सारे जगत को नष्ट करने की स्थिति में लाकर खड़ा किया है। अकेले पदार्थ की शक्ति अगर आविष्कृत हुई तो मनुष्य का अन्त हो जाना सुनिश्चित है। अगर अकेले पदार्थ की शक्तियां विकसित हुईं, वे शक्तियां अन्तिम हैं, और अगर नियंत्रक मनुष्य का विकास नहीं हुआ तो मानवता का अन्त हो जाना सुनिश्चित है। आज सारी जमीन पर, जो भी विचार करते हैं, उनके मस्तिष्क में एक ही विचार दिन रात उन्हें बेचैन किये है कि क्या मनुष्य बहुत शीघ्र अपने को समाप्त कर लेगा ? क्या हम उस अंतिम चरण पर आ गये हैं, जहां मनुष्य अपना एक युनिवर्सल सुसाइड कर लेगा ? एक सार्वजनिक आत्मघात कर लेगा ? निश्चित ही हम उस किनारे पर खड़े हैं। हमें ज्ञात हो या हमें ज्ञान न हो हम एक बड़े भयंकर विस्फोट और ज्वालामुखी के ऊपर खड़े हैं जिसका निर्माण स्वयं हमने किया है। एक अज्ञान में हमने उसका निर्माण किया है और वह अज्ञान यह रहा है कि विगत दो ढाई हजार वर्षों में हमने पदार्थ के भीतर जो शक्ति छिपी है उसे खोज निकाला है। मनुष्य के भीतर जो शक्ति छिपी है वह हमारी सोयी हुई है। उस मनुष्य के भीतर सोयी हुई शक्ति को जगाने का उपाय करना है। दीखता नहीं, दिखाई नहीं पड़ता। मनुष्य की देह को देखेंगे तो हड्डी और मांस और मज्जा के अतिरिक्त कुछ भी उसमें दिखाई नहीं पड़ता। मनुष्य की देह को काटेंगे, छाटेंगे, विश्लेषण करेंगे, कोई आत्मा उसमें उपलब्ध नहीं होती। मनुष्य की देह का कोई भी आविष्कार मनुष्य की आत्मा के संबंध में कोई सूचना नहीं देता है। इसलिए स्वाभाविक था कि विज्ञान कह दे कि मनुष्य के भीतर कोई आत्मा नहीं है और अब धीरे-धीरे हम इसे स्वीकार करते चले जा रहे हैं— वे लोग भी जो मंदिर में और मस्जिद में अपनी आराधना करते हैं और वे लोग भी जो अब तक प्राचीन परंपरा को श्रद्धा देते हैं, उनके भीतर भी, उनके आंतरिक मनमें कहीं, श्रद्धा खण्डित हो गई है, आस्थाएं गिर

गई हैं और एक संदेह खड़ा हो गया है— पता नहीं आत्मा हो भी या न हो। वह दिखाई तो नहीं पड़ती है। आत्मा दिखाई नहीं पड़ती है, इसलिए स्वाभाविक है कि निष्कर्ष इस जगत ने लेना शुरू किया है कि आत्मा नहीं है। जो नहीं दिखाई पड़ता है वह नहीं है ऐसा हमारा तर्क है। महावीर का, बुद्ध का कृष्ण का और क्राइस्ट का तर्क कुछ दूसरा है। उनका कहना है कि जो दिखाई पड़ता है वह सार्थक नहीं है, जो दिखाई पड़ने के पीछे है, जो नहीं दिखाई पड़ता है वही सार्थक है। उनका कहना है, जो दिखाई पड़ता है उसका कोई मूल्य नहीं है, जिसको दिखाई पड़ता है उसका मूल्य है। उनका कहना है जो दिखाई पड़ता है उसका कोई मूल्य नहीं, जिसको दिखाई पड़ता है उसका मूल्य है। यह बड़े क्रांतिकारी बिन्दु का अन्तर है और इस अन्तर को अगर हम न समझें तो हम धर्म को नहीं समझ सकते हैं।

धर्म उसकी खोज है जिसको सब दिखाई पड़ रहा है। और विज्ञान उसकी खोज है जो दिखाई पड़ रहा है। विज्ञान आब्जेक्ट की दृश्य की खोज है, धर्म सब्जेक्ट की, उस अदृश्य द्रष्टा की खोज है, जिसको दिखाई पड़ रहा है। पदार्थ पदार्थ को नहीं देख सकता है। पदार्थ को पदार्थ का बोध नहीं हो सकता है। जिसे पदार्थ का बोध हो रहा है, जिसे दूसरों का बोध हो रहा है वह अपनी आत्यंतिक सत्ता में जड़ नहीं हो सकता। बोध जड़ का लक्षण नहीं हो सकता है। यह अवेयरनेस, यह होश, यह दिखाई पड़ना, यह जड़ता की सामर्थ्य के बाहर है। इसे हम चैतन्य कहते हैं। इस चैतन्य की जो इकाई है उसे हम आत्मा कहते हैं। इस आत्मा को उपलब्ध कर लेने पर ही व्यक्ति जीवन में आनन्द को और शांति को उपलब्ध होता है। व्यक्ति जीवन में बंधनरहितता को, मुक्ति को उपलब्ध होता है। उसके अभाव में जीवन एक दुख यात्रा है, एक बोझिल यात्रा है।

मैंने कहा, आत्मा को उपलब्ध करके ही कोई व्यक्ति आनन्द को उपलब्ध होता है तो क्या यह हम समझें कि हम आत्मा को उपलब्ध नहीं हैं। यह असंभव है कि हम आत्मा को उपलब्ध न हों। आत्मा को हम उपलब्ध हैं। आत्मा निरन्तर हमारे भीतर है लेकिन हमें उसका बोध नहीं है। जिसको सबका बोध है हमें स्वयं उसका बोध नहीं है। जिसे सबका बोध हो रहा है उसके प्रति हम अबोध बने हुए हैं। उसका हमें स्मरण, उसके प्रति हमारा जागरण, उसके प्रति हमारा होश, उसके प्रति हमारी अवेयरनेस नहीं है। यह अवेयरनेस, यह होश अगर घटित हो जाय तो जीवन तत्क्षण रूपांतरित

हो जाता है एक नये ट्रांसफार्मेशन में, एक नये लोक में प्रविष्ट हो जाता है। वहां हम जानते हैं कि न दुख है, वहां हम जानने हैं कि न मृत्यु है, वहां हम जानते हैं, न पीड़ा है, न संताप है, वहां हम जानते हैं एक अविच्छिन्न शांति के प्रवाह को, वहां हम जानते हैं अविच्छिन्न जीवन के प्रवाह को, वहां हम जानते हैं उस चैतन्य को जिस चैतन्य में रंच मात्र भी दुख का कण प्रवेश नहीं करता।

मैं स्मरण करता हूं — एक घटना को स्मरण करता हूं। एक बहुत बड़े भवन में, ऊपर एक भोज आयोजित था। कुछ मित्र वहां इकट्ठे थे। एक साधु भी आमंत्रित था। वे भोजन में संलग्न थे और चर्चा में संलग्न थे और भूकम्प आया। अभी यहां भूकम्प आ जाय तो मेरा आपको स्मरण भूल जायेगा, पड़ोसी का स्मरण भूल जायगा। यहां क्या हो रहा है, उसका स्मरण भूल जायेगा। एक ही स्मरण रह जायगा, अपने को बचा लेने का। आप भागेंगे, शायद आप होश में भी नहीं भागेंगे, शायद भागना भी बेहोशी और मूर्छा में होगा। शायद भागते वक्त, भागना शुरू करने के बाद आपको ज्ञात होगा कि आप बैठे थे थोड़ी देर पहले और भाग रहे हैं। भागने के पहले स्मरण से भी आप न भागेंगे। भागने के बीच में कहीं आपको बोध आयेगा कि अब आप भाग रहे हैं। वैसा ही हुआ। वह भूकम्प आया,वह भवन कंपा। लोग भागे। वे उस साधु की चर्चा को भूल गये जिससे बात होती थी। वहां सीढ़ियों पर भीड़ हो गयी। छोटी सीढ़ियां, बहुत लोग। वह जो मेजबान था, जिसने आमंत्रण दिया था, वह जो आतिथेय था उसने लौटकर देखा कि मित्र साधु का क्या हुआ, अतिथि का क्या हुआ ? वह देखकर हैरान हुआ, वह साधु आंख बन्द किये अपनी जगह पर बैठा है। और उसके चेहरे पर भूकम्प का कोई भी प्रभाव नहीं है। उसके चेहरे पर कोई भी रेखा नहीं, वह बहुत घबराया। उसके मन में हुआ कि आज इस व्यक्ति के पास रुक जाना बड़ा आवश्यक है। इस व्यक्ति के पास रुक जाना इसलिए आवश्यक है कि ऐसा असामान्य व्यक्ति आज तक जीवन में उपलब्ध नहीं हुआ जिसे भूकम्प के कंप का अनुभव नहीं हो रहा हैं। और जिस पांच मंजिल भवन पर बैठा है मृत्यु को निमंत्रण लिए, उसके पास रुक जाना उसे जरूरी लगा। वह रुक गया। कोई मिनिट डेढ़ मिनिट के बाद भूकम्प समाप्त हुआ। नगर में बहुत भवन गिर गये हैं। नगर में बहुत कोलाहल है। उस मकान के भी कुछ हिस्से गिर गये हैं। सब अस्त-व्यस्त हो गया है। उस साधु ने आंख खोली और जहां से चर्चा

टूट गयी थी, वहीं से प्रारम्भ कर दिया। उसके मेजबान ने कहा कि मैं हैरान हूं, आपको चर्चा का स्मरण है कि कहां टूट गयी थी ? मैं हैरान हूं कि वह अधूरा वाक्य जो रह गया था उसको आप फिर पूरा कर रहे हैं ! लेकिन मुझे कुछ स्मरण नहीं कि आपने पहले क्या कहा। भूकम्प के पहले की दुनिया और बाद की दुनिया में बहुत अन्तर पड़ गया है। मुझे कुछ स्मरण नहीं है। अभी मैं कुछ न समझ सकूंगा। मुझे तो एक ही बात पूछनी है। अभी यह भूकम्प आया, लेकिन आप तो बिलकुल अकम्प थे। मुझे यह पूछना है, इस भूकम्प का क्या हुआ ? उस साधु ने जो कहा—वह मन के किसी बहुत आंतरिक कोने में रख लेने जैसा है। बहुत संजोकर रख लेने जैसा है। उस साधु ने कहा—कुछ वर्ष हुए, तब मुझे भी भूकम्प आते थे। फिर मैं अपने भीतर एक ऐसा आश्रय स्थल पा गया—वहीं सरक जाता हूं, वहां तक कोई भूकम्प नहीं पहुंचता है। वहीं सरक गया था। अपने भीतर एक ऐसे शान्ति के केन्द्र को पा गया हूं जहां बाहर की कोई अशांति नहीं पहुंचती है।

क्या मैं आपको कहूं, हम अशांत हैं इसलिए बाहर की अशांति हम तक पहुंच जाती है ? क्या मैं आपको कहूं कि हम दुखी हैं, इसलिए बाहर का दुख हम तक पहुंच जाता है ? क्या मैं आपको कहूं कि हम निरन्तर कंपित हैं इसलिए बाहर के भूकम्प हम तक पहुंच जाते हैं ? अगर हमारे भीतर रिसेप्टिविटी न हो उन्हें पकड़ने की, वे हम तक नहीं पहुंच पायेंगे। हम तक वही पहुंचता है जिसे पकड़ने को हम उत्सुक और आतुर हैं। हम निरन्तर दुखी होते चले जाते हैं। सिर्फ इसलिए कि हम केवल दुख को ही पकड़ने में समर्थ हैं। हम उसी के प्रति रिसेप्टिव हैं। हम दुख को ही आमंत्रित करते और इकट्ठा करते हैं। काश, हमारे भीतर आनन्द की किरण फूट जाय, यह सारा जगत आनन्द में परिणत हो जायेंगा क्योंकि आप केवल आनंद के प्रति ही रिसेप्टिव, संवेदनशील रह जायेंगे। तब जो भी आपके पास आयेगा वह आनंद होगा। अगर भीतर आनन्द हो, सारा जगत आनंद में परिणत हो जायेगा। अगर भीतर सुगन्ध हो, सारा जगत सुगन्ध में परिणत हो जायेगा। अगर भीतर संगीत हो, सारा जगत संगीत में परिणत हो जायेगा। क्योंकि आप केवल संगीत को पकड़ पाते, संगीत को इकट्ठा कर पाते, संगीत को ही आमंत्रित कर पाते हैं, संगीत के ही आतिथेय बन पाते हैं। संगीत ही आपका अतिथि हो पाता है। भीतर दुख है, भीतर अशांति है, चारों तरफ से अशांति दौड़ कर चली आती है और इकट्ठी होती चली जाती है। दुखी व्यक्ति सारे

जगत से दुख को आता हुआ अनुभव करेगा। दुखी व्यक्ति का जगत को देखने के केन्द्र का नाम संसार है। आनन्द को उपलब्ध व्यक्ति का जगत को देखने का नाम ब्रह्म और परमात्मा है। आनंदित व्यक्ति इस जगत को संसार नहीं देखता, इस जगत को एक आनंदित लीला में परिणत हुआ देखता है। तब यह जगत परमात्मा हो जाता है, तब यह जगत भगवतस्वरूप हो जाता है। कोई भगवान नहीं है कहीं। जगत भगवत्ता में परिणत हो जाता है। भगवान कोई व्यक्ति नहीं है, एक दृष्टि है भगवान। भगवान कोई व्यक्ति नहीं है एक दृष्टि है जगत को देखने की। आनन्द की दृष्टि में सारा जगत भगवान हो जाता है। दुख की दृष्टि में सारा जगत संसार हो जाता है और आत्यंतिक दुख की स्थिति में सारा जगत नर्क हो जाता है। हमारे भीतर दृष्टियां बदलती हैं, बाहर सारा जगत बदलता चला जाता है। यही जगत दूसरा हो जाता है, अगर हम दूसरे हो जायं। यही सब कुछ अन्य हो जाता है अगर हम अन्य हो जायं। उस केन्द्र को उपलब्ध करना है, उस शांति के बिन्दु को उपलब्ध करना है जहां से देखने पर सारा जगत भगवत स्वरूप हो जाता है।

धर्म इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। मैं आपको स्मरण दिलाऊं, न तो जैन कोई धर्म है, न हिन्दू कोई धर्म है, न इस्लाम कोई धर्म है, न ईसाइयत कोई धर्म है। धर्म तो एक ही है केवल। बहुत धर्म असंभव हैं। बहुत धर्म नहीं हो सकते हैं। जो भी सत्य है, एक ही हो सकता है, असत्य ही केवल अनेक हो सकते हैं। असत्य अनेक हो सकते हैं, सत्य एक ही हो सकता है। बीमारियां अनेक हो सकती हैं, स्वास्थ्य एक ही हो सकता है। आपने अनेक स्वास्थ्यों के नाम नहीं सुने होंगे और न आपने अनेक सत्यों के नाम सुने होंगे। विकृतियां अनेक हो सकती हैं, संस्कृति एक ही हो सकती है। विकार मात्र अनेक हो सकते हैं। केन्द्र एक ही हो सकता है, परिधि पर बिंदु अनेक हो सकते हैं। सत्य एक है, धर्म एक है। उसका कोई नाम नहीं है। और जिस धर्म के साथ नाम हो शक हो जाना काफी है। जितना ही वह नाम वजनी होगा उतना ही धर्म भीतर कम हो जायेगा। जितना विशेषण भारी और बोझिल होगा, धर्म भीतर उतना ही कम हो जायेगा। जितना विशेषण और नाम शून्य और खाली होगा, उतना ही भीतर धर्म ज्यादा हो जायगा। अगर बिलकुल विशेषण शून्य हो तो धर्म पूरा हो जायेगा। ये सारे विशेषण धर्म नहीं हैं और इन विशेषणों के कारण हम बहुत मुसीबत में पड़े हैं और

मनुष्य के जीवन में, मनुष्य के इतिहास में इन विशेषणों ने, इन सम्प्रदायों ने, इन नामों ने जितनी पीड़ा पहुंचाई है, न तो राजनीति ने पहुंचायी है, न अत्याचारियों ने पहुंचायी है, न पापियों ने पहुंचाई है, न दुष्टों ने पहुंचाई है, न हिंसकों ने पहुंचाई है। इस जगत को जितनी पीड़ा तथाकथित धार्मिक लोगों ने धर्म के नाम पर चलाये हुए प्रचलित संप्रदायों ने पहुंचाई है उतना किसी और ने नहीं पहुंचाई है। मनुष्य को मनुष्य से तोड़ देने में जितने संप्रदाय और नाम कारगर हो गये हैं, उतनी और कोई चीज कारगर नहीं हुई है। मनुष्य और मनुष्य के बीच और कोई दीवार नहीं है सिवाय विशेषणों के। और मैं आपसे कहूं, जो मनुष्य को मनुष्य से तोड़ दे वह मनुष्य को मनुष्य से जोड़ने में समर्थ नहीं हो सकता। जो मनुष्य को मनुष्य से तोड़ दे वह मनुष्य को स्वयं से जोड़ने में समर्थ नहीं हो सकता है और जो धर्म मनुष्य को स्वयं से जोड़ता है वह अनिवार्य रूप से सबसे जोड़ देता है। स्वयं से जो जुड़ गया वह सबसे जुड़ गया क्योंकि वहां स्वयं के तल पर कोई भेद नहीं है। वहां एक ही समान ज्योतियां प्रकाशित हैं। वहां एक ही ज्योति का प्रकाश है, एक ही चैतन्य का स्पंदन चल रहा है। इसलिए मैं कहूं, जैन, हिंदू, और मुसलमान इन शब्दों को छोड़ दें। इनके नीचे शब्दों से शून्य जो मिलेगा वह धर्म है। ये शब्द व्यर्थ हैं।

इन शब्दों से दीवालें बनी हैं और इन शब्दों के कारण धर्म तिरोहित होता चला जा रहा है। किसी आदमी से पूछो, धार्मिक हो, वह कहेगा मैं जैन हूं, हिन्दू हूं या मुसलमान हूं। धार्मिक आदमी जमीन पर खोजना मुश्किल हो गया है। और अगर मैं किसी से कहूं कि मैं धार्मिक हूं तो भी वह खोद-खोद कर पूछता है कौन से धार्मिक हो। वह पूछना चाहता है, किस धर्म के। जैसे कि कोई धर्म भी हो सकता है। मुझे महावीर जैन नहीं मालूम होते और क्राइस्ट क्रिश्चियन नहीं मालूम होते और कृष्ण मुझे हिन्दू नहीं मालूम होते। अगर ये कुछ भी हैं तो ये सारे लोग एक ही धर्म के हिस्से हैं और एक ही धर्म की अभिव्यक्तियां हैं। और काश, हमारी आंखों से नामों का जाल गिर जाय तो हम कितने समृद्ध हो जायं। तब सारे सद्पुरुषों की परंपरा हमारी होगी। अभी तो विभक्त परम्पराएं, कोई किसी की है, कोई किसी की है। तब महावीर ही हमारे नहीं होंगे, तब क्राइस्ट और कृष्ण और कन्फ्यूशस भी हमारे होंगे। तब मनुष्य की सारी परंपरा, प्रत्येक मनुष्य की अपनी होगी, तब प्रत्येक मनुष्य का, सारा अतीत का मनुष्य का इतिहास अपना होगा। तब हम एक सागर के

किनारे खड़े हो जायेंगे, अभी हम छोटी-छोटी नालियों के किनारे खड़े हैं। तब एक अनन्त सागर के किनारे खड़े हो जायेंगे। धर्म एक ही है, एक अनन्त सागर की भांति और सम्प्रदाय उस पर बने छोटे-छोटे घाटों की तरह हैं। जो घाटों को सागर समझ लेगा वह गलती में रहेगा। घाट बिल्कुल सागर नहीं हैं। घाट की सीढ़ियां बिल्कुल सागर नहीं हैं। घाट की सीढ़ियां उपयोगी बहुत हैं। वे सागर तक पहुंचा सकती हैं लेकिन घाट की सीढ़ियां सागर तक जाने से रोक भी सकती हैं। जो पहुंचा सकता है वह रोक भी सकता है। जो सीढ़ियां मुझे इस भवन तक लायी हैं वे सीढ़ियां मुझे इस भवन तक पहुंचा भी सकती हैं— अगर मैं सीढ़ियां चढ़ूं और उन्हें छोड़ता चला जाऊं। और वे सीढ़ियां मुझे इस भवन तक आने से रोक भी सकती हैं अगर मैं सीढ़ियों को पकड़ लूं और वहीं रुक जाऊं।

सम्प्रदाय पकड़ लिये जायं, धर्म के दुश्मन हो जाते हैं। सम्प्रदाय छोड़ दिये जायं, धर्म की सीढ़ियां हो जाते हैं। वे ही सीढ़ियां रुकावट के पत्थर बन सकती हैं, वे ही पत्थर चढ़ने के लिए सीढ़ियां बन सकते हैं। सम्प्रदाय जोर से पकड़े गये है इसलिए धर्म तिरोहित होता चला जा रहा है। सम्प्रदायों को छोड़ देना होगा ताकि धर्म वापिस पुनर्स्थापित हो सके। जैन को कहना होगा मैं जैन नहीं हूं, धार्मिक हूं। हिन्दू को कहना होगा मैं हिन्दू नहीं हूं, धार्मिक हूं। ईसाई को कहना होगा कि मैं ईसाई नहीं हूं, धार्मिक हूं। सारे जगत में धर्म के उद्घोष को वापस स्थापित कर देना जरूरी है। महावीर ने अपने शब्दों में कहीं नहीं कहा, जैन धर्म। वे कहते थे सम्यक धर्म। बुद्ध ने कहीं नहीं कहा, बुद्ध धर्म। वे कहते थे सच्चा धर्म। क्राइस्ट ने कहीं नहीं कहा, क्रिश्चियन धर्म। कृष्ण ने कहीं नहीं कहा, हिन्दू धर्म। आज तक जगत में जो भी सत्य को उपलब्ध हुए हैं उन्होंने धर्म को कोई नाम नहीं दिया। उन्होंने दो ही धारायें मानी हैं—एक अधर्म की धारा है, एक धर्म की धारा है। आप हैरान होंगे, अधर्म की अनेक धाराएं आपने देखीं ? कि यह फलां नाम का अधार्मिक है, यह फलां नाम का अधार्मिक है, यह फलां नाम का अधार्मिक है। अधर्म की एक ही धारा है, लेकिन धर्म की अनेक धाराएं कैसे हो सकती हैं ! अगर अधार्मिक एक ही तरह का होता है सारी जमीन पर तो धार्मिक को भी एक ही तरह का होना पड़ेगा तो अधर्म नष्ट हो सकता है। अधार्मिक संगठित है, धार्मिक असंगठित हैं यह पराजय का धर्म का कारण है। अधार्मिक एक है, धार्मिक अनेक हैं। यह धर्म के तिरोहित होते जाने का कारण है। अगर वापस जमीन पर धर्म की उद्घोषणा देनी है तो स्मरण और साहस करना होगा इस

बात का कि संप्रदाय की सीढ़ियों को छोड़ने की हम हिम्मत करें और सागर को आमंत्रित करें, जिसका कोई कूल किनारा नहीं, जो घाटों में और रास्तों में सीमित नहीं है। उस असीम की तरफ ले जाने का द्वार, उस असीम तक पहुंचने का मार्ग किसी दूसरे से होकर नहीं जाता है। महावीर ने एक अद्भुत बात कही है। उन्होंने कहा है, जो मेरी शरण पकड़ेगा वह स्वयं तक नहीं पहुंच सकेगा। जो मेरी शरण पकड़ेगा वह सत्य तक नहीं पहुंच सकेगा। सत्य का कोई दरवाजा दूसरे से होकर नहीं जाता है, स्वयं से होकर जाता है। स्वाभाविक भी है। आप मेरे कितने ही निकट हों, मेरे बहुत निकट नहीं हो सकते। मुझसे दूर बने ही रहेंगे। मैं आपको बिलकुल आलिंगन में भी ले लूं तब भी आप मुझसे दूर बने रहेंगे और वह फासला इतना ज्यादा है कि पूरा नहीं होता। इस जगत में मेरे अतिरिक्त मेरे करीब कोई भी नहीं हो सकता है। मैं लाख उपाय करूं, लाख चेष्टाएं करूं, लाख प्रेम करूं, मोह करूं, आसक्ति करूं, करीब में ले लूं आखिर में पाऊंगा कि मेरे और आपके बीच बहुत फासला है। हम दूर ही खड़े हैं। दो बिन्दु इस जगत में इतने निकट नहीं आ सकते कि निकट हो जायं। उनके फासले अनन्त हैं और अनन्त ही बने रहेंगे। फासले कम हो जायं, दूरी कम नहीं हो सकती। फासले कम हो जायं, उन दो हाथों के बीच फासला ज्यादा है, अब कम हो गया लेकिन दूरी कम नहीं हुई, दूरी है। दूरी मौजूद है। यह हाथ मेरे बिलकुल करीब आ गये हैं, तब भी दूरी मौजूद है। सिर्फ एक ही दूरी है, जिससे मैं दूर नहीं हूं, वह कहीं मेरे भीतर है, वह कहीं मैं हूं।

सत्य को जिसे जानना है, स्वाभाविक है कि निकट पर ही पहली पकड़ और पहुंच करनी होगी। जो निकट को नहीं जानता वह दूर को कैसे जान सकेगा। जो निकट से परिचित नहीं है वह दूर से परिचित कैसे हो सकेगा। जो स्वयं से अपरिचित है वह सर्व को जानने चले, नासमझी है, अज्ञानी है। सत्य का द्वार स्वयं से होकर जायेगा। और कोई रास्ता नहीं है। कोई रास्ता कभी नहीं था और कभी नहीं हो सकेगा। सबसे पहली चोट, सबसे पहली दस्तक मुझे अपने पर देनी होगी। सबसे पहले मुझे अपने द्वार खटखटाने होंगे। लेकिन हम ऐसे हैं कुछ, हम सारी जमीन के दरवाजे को खटखटा आयेंगे और हम सारे जमीन के मकानों की सीढ़ियों को चढ़ आयेंगे और एक मकान को अछूता छोड़ देंगे जो कि अपना है। एक को छोड़ देंगे और अनेक को खोजते फिरेंगे। इस खोज के पीछे भी कोई कारण है।

कोई आधारभूत कारण जरूर है, अन्यथा इतने करोड़-करोड़ लोग एकदम अज्ञान में नहीं हो सकते थे। अज्ञान बिलकुल बेबुनियाद नहीं हो सकता, उसके भीतर कोई बुनियाद होगी अन्यथा इतने लोग दुख में नहीं हो सकते थे जबकि सारे तीर्थंकर, सारे अवतार, सारे ईश्वर और सारे पैगम्बर कहते हों कि आनन्द का राज्य तुम्हारे भीतर है। जबकि सारे मनीषी चिल्लाते हों कि आनंद का राज तुम्हारे भीतर है। यह कितनी अजीब-सी बात है कि इतने लोग दुख में और पीड़ा में और अज्ञान में कैसे हैं। अगर संख्याओं से ही तय किया जाय तो हमीं ठीक निकलेंगे, महावीर बुद्ध गलत हो जायेंगे क्योंकि संख्या बहुत कम है। अगर निर्णायक बहुमत हो तो हमीं ठीक निकलेंगे, महावीर बुद्ध और कृष्ण, क्राइस्ट सब गलत हो जायेंगे। उनकी संख्या बहुत अल्प है। यह हो सकता है कि वह भ्रम में हों क्योंकि थोड़े से लोग हैं, यह बिलकुल मुश्किल मालूम पड़ता है कि अरबों लोग भ्रम में हों। भ्रम की घटना थोड़े से लोगों पर घट सकती है। इतने लोगों पर ? लेकिन यह बड़ी हैरानी की बात है कि हम उनको तो सत्य में मानते हैं और अपने को भ्रम में मानते हैं। इस भ्रम के पीछे जरूर कोई बहुत गहरा आधार होना चाहिए। आधार है। और उस आधार को हम न समझ लें तो स्वयं तक पहुंचना नहीं हो सकता। वह आधार यह है बहुत संक्षिप्त में, वह आधार एक छोटी-सी कहानी से आपको कहूं।

एक अन्धेरी रात आने के करीब है, सांझ हो गयी, सूरज ढलने को है और एक बूढ़ी स्त्री घर के भीतर अपना कपड़ा सीती है। सूरज ढलने लगा और उसकी सुई गिर गई और खो गई। सूरज ढल गया बाहर, उसके कमरे के भीतर अन्धेरा उतरने लगा। सुई छोटी, स्त्री बूढी आंखें उसकी कमजोर, ढूंढ़ना मुश्किल, वह ढूंढ़ते ही बाहर की दहलान में आ गई। वहां थोड़ी रोशनी थी। भीतर के कमरे में अन्धेरा घना हो गया, वह खोजती हुई सुई को बाहर की दहलान में आ गई। वहां अभी ढलते सूरज की थोड़ी रोशनी थी। लेकिन जब तक वह दहलान में खोजे, कि सूरज और ढल गया। अब तो बाहर दरवाजे के सड़क पर थोड़ी रोशनी थी। वह खोजती हुई सड़क पर आ गई। कोई करीब से युवक निकला। उसने पूछा, क्या गुम गया ? मैं सहायता करूं ? उस स्त्री ने कहा, सहायता करो तो बड़ी कृपा हो, मेरी आंखें कमजोर हैं और सुई गुम गई है। उस युवक ने थोड़ी देर खोजा, वहां कोई सुई दिखाई नहीं पड़ी। फिर उसने पूछा, सुई छोटी चीज है। पहले यह बता दें ठीक-ठीक कि किस जगह गिरी तो शायद मिल भी जाय। इतना बड़ा रास्ता मैं कहां सुई को

खोजूंगा। वह स्त्री बोली कि यह मत पूछो कि कहां गिरी। यह घाव मेरा मत छेड़ो, मेरे घर में दिया नहीं। सुई गुमी तो भीतर है। लेकिन वहां रोशनी नहीं है। सुई गिरी तो भीतर है, लेकिन वहां रोशनी नहीं है और जहां रोशनी है वहां सुई गिरी नहीं है, यह मेरी दुविधा है। यह मत पूछो कि सुई कहां गिरी। तुम तो खोज दो, मिल जाय तो ठीक। वह युवक बोला आप पागल हैं, सुई जहां गुमी है वहीं मिल सकती है। प्रकाश जहां है, वहां मिलने का कोई कारण नहीं है। वह स्त्री बहुत हंसने लगी, वह एक फकीर थी। और वह कहने लगी, लेकिन सब वहीं खोजते हैं जहां प्रकाश है। कोई वहां नहीं खोजता है जहां गुमना हुआ है। सच ही, हम सब वहां खोजते हैं, जहां प्रकाश है। हम वहां नहीं खोजते जहां गुमना हुआ है। क्या कभी अपने से पूछा कि जिसे हम खोज रहे हैं उसे हमने खोया कहां ? खोज के पहले जो यह नहीं पूछ लेता कि हमने खोया कहां है, उससे ज्यादा नासमझ और कौन होगा।

सारे जगत में मनुष्य अगर कुछ खोज रहा है तो आनन्द को खोज रहा है। छोटे से कीड़े पतंगे से लेकर मनुष्य तक अगर कोई खोज चल रही है तो आनन्द की चल रही है। कुछ भी आप खोज रहे हों, अन्ततः आप आनंद खोज रहे हैं। पर कभी पूछा है कि आनन्द खोया कहां है ? फिर आनन्द को खोज रहे हैं जहां प्रकाश पड़ रहा है वहां। आंखें बाहर खुलती हैं मनुष्य को भीतर नहीं खुलती हैं। हाथ बाहर फैलते हैं, भीतर नहीं फैलते। कान बाहर सुनते हैं, भीतर नहीं सुनते। सारी इन्द्रियों का प्रकाश बाहर पड़ता है। सारी इन्द्रियां बहिर्मुखी हैं, अन्तर्मुखी कोई इन्द्रिय नहीं है। सारी इन्द्रियों का प्रकाश बाहर पड़ने से, जैसे ही हम पैदा हुए, बाहर खोजना शुरू कर देते हैं। यह बाहर की खोज इस बुनियाद पर चल रही है कि सारे शरीर का द्वार बाहर खुलता है। इन्द्रियां बाहर खुलती हैं इसलिए हम बाहर खोज रहे हैं लेकिन यह अपने से नहीं पूछते कि खोया कहां है। और आप कहेंगे, यह भी तो हो सकता है कि हमने खोया न हो, हम बिलकुल नयी चीज खोज रहे हैं। यह भी तो कह सकते हैं कि हम बिलकुल नयी चीज खोज रहे हैं, हमने खोया न हो। यह बिलकुल गलत है। आप उस चीज को कभी नहीं खोज सकते जिसका आपको स्मरण न हो, जिसके आपके आंतरिक तल में कोई आकांक्षा और अनुभव न हो, आप उसे कभी नहीं खोज सकते। खोजने का अर्थ है कि खोया है—खोजने का अर्थ है कि खोया है। आपने कभी सोचा हम आनन्द को क्यों खोजें ? इस जमीन पर, इस पूरे जगत में कोई कभी सोचता है कि मैं आनन्द को

क्यों खोज रहा हूं ? बस हम खोज रहे हैं। आनन्द की खोज हमारी निसर्ग है, हमारा स्वभाव है। आनन्द की खोज हमारे सोच-विचार का परिणाम नहीं है। आपने सोचकर तय नहीं किया है कि मैं आनन्द खोजूं। आप आनंद खोज रहे हैं। आपने पाया है कि आप आनन्द खोज रहे हैं। अगर सोच-विचार के तय किया होता तो एक नयी चीज की खोज भी हो सकती थी। सोच विचार से तय नहीं किया। निसर्ग से एक आकांक्षा पकड़े हुए है कि आनंद को उपलब्ध करो, दुख से दूर हो जाओ और आनन्द को पा लो। जरूर कहीं हमने खोया है। जरूर हमें आनन्द का कोई अनुभव है। जरूर किसी तल पर हम आनन्द से परिचित हैं। जरूर किसी तल पर हम आनन्द में प्रतिष्ठित हैं अन्यथा यह आनन्द की खोज, अनविचारी, अनसोची नहीं चल सकती थी। और मैं आपको स्मरण दिलाऊं कि आप दुख से बचना क्यों चाहते हैं ? कोई भी दुख को वरण क्यों नहीं करना चाहता ? कोई दुख को स्वीकार क्यों नहीं करना चाहता। दुख को हम अस्वीकार करते हैं इसलिए कि दुख हमारे भीतर से तालमेल नहीं खाता। दुख हमारे भीतर से समन्वित नहीं होता है। दुख हमारे भीतर जाकर संगीत नहीं, विसंगीत उत्पन्न करता है। हम जैसे कुछ भीतर हैं, दुख उसका सजातीय नहीं है। इसलिए दुख का विरोध है, दुख से हटना है, दुख से पलायन है। दुख से बचाव है, दुख से रक्षा है और आनन्द की खोज है। खोज उसकी होती है, जो हमारे स्वरूप से मेल खाता हो। विरोध उसका होता है जो हमारे स्वरूप से विपरीत जाता हो। दुख स्वरूप के विपरीत जाता है इसलिए हर एक बचना चाहता है। आनन्द स्वरूप के अनुकूल आता है इसलिए प्रत्येक उपलब्ध होना चाहता है। आनन्द को प्रत्येक उपलब्ध होना चाहता है इसलिए कि आनन्द कहीं प्रतिष्ठित है। कहीं हमारी आन्तरिक सत्ता में आनन्द को इस क्षण भी हमारी जड़ें वहां फैली हुई हैं। आनन्द हमारे भीतर है, इंद्रियों के द्वार बाहर हैं। ये मनुष्य के जीवन का संघर्ष और अन्तर्द्वन्द है। सुई भीतर गुमी है, रोशनी बाहर है। खोज बाहर हो रही है, खोना भीतर हुआ है। तो फिर क्या हो, फिर क्या रास्ता बने ?

जिन्होंने बहुत खोजा बाहर, खोजकर थक गये। जिन्होंने बाहर सब पा लिया और पाया कि कुछ भी नहीं मिला, उन्हें एक अन्तर्दृष्टि का जागरण हुआ कि भीतर और खोजकर देख लें। महावीर राजपुत्र थे, सब उनके घर में था। सब समृद्धि, सब सुख। सब उनके पास था और अनुभव होता था, कुछ भी पास नहीं है। बाहर पाने जैसा कुछ भी शेष नहीं था लेकिन पाने को सब

कुछ शेष था। इस स्थिति में, इस टेंशन में, इस तनाव में कि सब मेरे पास है और मेरे पास कुछ भी नहीं—कुछ भी शेष नहीं रहा पाने को और सब कुछ शेष है पाने को—इस तनाव ने, इस संघर्ष ने स्मरण दिलाया, इस दुनिया की आत्यंतिक स्थिति ने स्मरण दिलाया। अपने भीतर और खोज देखो, हो सकता है जो बाहर उपलब्ध न हुआ हो, वह भीतर उपलब्ध हो जाय। हो सकता है जो बाहर संभव न हुआ हो वह भीतर संभव हो जाय। भीतर देखने के लिये क्या करें ? आंख भीतर देखती नहीं। भीतर छूने के लिए क्या करें, हाथ भीतर छूते नहीं। भीतर जाने के लिए क्या करें, किस रास्ते से भीतर जायं। मैंने कहा, इन्द्रियां बाहर जाती हैं। कोई इन्द्रिय भीतर नहीं जाती है। तो फिर भीतर कैसे जायें ? तो भीतर जाने की एक राह मिल गयी—सब इंद्रियां बाहर जाती हैं, अगर कोई भी इंद्रिय कार्य न कर रही हो, सब इंद्रियां निष्क्रिय हों, उस क्षण में आप भीतर हो जायेंगे। आंख बाहर देखती है, कान बाहर सुनते हैं। यह स्पर्श बाहर होता है, स्वाद बाहर होता है, गंध बाहर होती है। अगर ये पाँचों इंद्रियां बिलकुल जड़वत् हों, उस घड़ी में आप कहां होंगे ? बाहर जाने का तो द्वार नहीं मिलेगा। बाहर जाने का, चैतन्य को द्वार नहीं मिलेगा। सारे द्वार बन्द हैं तब चैतन्य अपने में होगा। तब आप भीतर होंगे। भीतर जाने के लिए द्वार की जरूरत नहीं है, केवल बाहर न जायं, इतना ही काफी है और भीतर जाने के लिए मार्ग हो भी नहीं सकता क्योंकि कोई मार्ग भीतर नहीं ले जा सकता। मार्ग सब बाहर ले जाते हैं और दूर ले जाते हैं। स्मरण रखें, कोई भी मार्ग भीतर नहीं ले जा सकता। सब मार्ग बाहर ले जाते हैं और दूर ले जाते हैं। मार्ग मात्र दूर को जोड़ने का उपाय है, अपने को जोड़ने के लिए कोई मार्ग नहीं हो सकता। मार्ग दो को जोड़ सकते हैं। एक ही अपने को पाना चाहे तो कैसे मार्ग होगा। मुझे आप तक आना हो तो मैं चलकर आऊंगा, मुझे अपने तक आना हो तो चलकर कैसे जाऊंगा। आप तक जाना हो तो चलना पड़ेगा, अपने तक आना हो तो चलना छोड़कर रुकना पड़ेगा। दूसरे तक जाने को चलना है, अपने तक आने को रुकना है। सब योग रुकने का उपाय है। सब योग इन्द्रियों को रोक लेने के उपाय हैं। महावीर बारह वर्षों की एकान्त साधना में इन्द्रियों के द्वार पर न जाने का अभ्यास कर रहे थे। आंख के पीछे न जाने का अभ्यास, कान के पीछे न जाने का अभ्यास, स्पर्श के पीछे न जाने का अभ्यास, स्वाद के पीछे न जाने का अभ्यास, गन्ध के पीछे न जाने का

अभ्यास, सारी इन्द्रियों के पीछे न जाने का अभ्यास। हम पूरे जीवन इन्द्रियों के पीछे जा रहे हैं, हम उनके गुलाम और दास हैं।

इन्द्रियों का अनुगमन नहीं, इन्द्रियों के पीछे प्रतिक्रमण, वापस लौटना। इन्द्रियों का अनुगमन तो नहीं, इन्द्रियों का प्रतिक्रमण। इन्द्रियों के पीछे तो नहीं जाना, उनके पीछे, उनके अनुयायी तो नहीं होना, लेकिन उनसे वापस लौटना और अपने में आना। इन्द्रियों में जो जायेगा वह संसार में पहुंच जायेगा, इन्द्रियों से जो अपने को रोक लेगा वह स्वयं में चला जाता है। इंद्रियों में जो जायेगा वह संसार में पहुंच जायेगा, इन्द्रियों को जो रोक लेगा वह स्वयं में पहुंच जाता है। इन्द्रिय-निरोध स्वरूप की प्रतिष्ठा का उपाय है। सारी साधना इन्द्रिय निरोध की साधना है।

कैसे होगा इन्द्रिय निरोध ? आंख देखती है, रूप को देखती है। कान सुनते हैं, वाणी को सुनते हैं। कैसे यह होगा कि कान वाणी को न सुने, आंख रूप को न देखे। कैसे होगा, महावीर भी तो देखते होंगे। आंख तो नहीं फोड़ ली होगी, और जिन्होंने आंख फोड़ ली हैं, वे नासमझ रहे होंगे। आंख फूटने से कुछ भी नहीं होता है। आंख फूट जाय तो रूप मिट नहीं जाते, और प्रगाढ़ होकर चित्त में चलने लगते हैं। कान फोड़ लेने से तो नहीं होगा, हत्या अपनी कर लेने से तो नहीं होगा। महावीर क्या करते होंगे, आंख तो देखेगी। आंख का तो देखना धर्म है। कान तो सुनेंगे, कान का तो सुनना धर्म है। हाथ तो छुयेंगे, हाथ का तो स्पर्श करना धर्म है। फिर महावीर क्या सोचते होंगे ? कोई भी साधक क्या साधता होगा ? क्या आंख फोड़ लें, कान फोड़ लें, हाथ तोड़ दें तो काम हो जायेगा ? इन्द्रियों को नष्ट करना नहीं, इन्द्रियों का निरोध करना बड़ी अलग बात है। अनेक ना समझ हैं जो इन्द्रियों को नष्ट करने में लग जाते हैं। वे इसी में पागल हैं, जिसका कोई हिसाब नहीं।

मैं एक दफा एक गांव पर एक यात्रा पर गया। एक बैलगाड़ी में सवार था। एक साधु मेरे साथ थे। वे कोई आठ दिन से उपवास कर रहे थे। उपवास तो वह नहीं था, अनाहारी हो सकता था। भूखे मर रहे थे। शरीर को सब तरह का कष्ट देते थे और दमन करते थे। वह भी मेरे साथ थे। बैलगाड़ी में हमें जाना पड़ा। मैं तो सो गया, वे बैठे रहे। वह बैठे रहे इस डर से कि जो हमारा कोचवान था, गाड़ी चलाता था, वह कुछ पागल था। उसका कोई विश्वास नहीं था कि कहां ले जाय। मैंने तो कहा, मैं तो सोता हूं, कहीं भी ले जायेगा, तब तक सोयेंगे, लेकिन वे बैठे रहे। मैं सोया रहा,

रात कोई आधी रात को अचानक मेरी नींद खुली, वह भी मुझे उठा रहे थे। कोई बैलगाड़ी पर जोर से डंडे मार रहा था। मैं उठकर बैठा, देखा, वह जो बैलगाड़ी चलाने वाला था वह अपने डंडे से बैलगाड़ी को मार रहा है और गालियां बक रहा है। मैंने उससे पूछा, क्या बात है ? वह बोला, बैलगाड़ी ठीक से नहीं चलती। वह बैलों को तो कुछ नहीं कर रहा था, बैलगाड़ी को मार रहा था। वह साधु मुझसे कहने लगे, मैंने पहले ही कहा था, यह पागल है, इसके साथ चलना ठीक नहीं। मैंने उन साधु को कहा, मुझे यह पागल नहीं दिखाई देता, बिलकुल आपका सजातीय दिखाई देता है। आप भी यही कर रहे हैं। मन तो चल नहीं रहा है तो शरीर को ठीक कर रहे हैं। मन साथ नहीं दे रहा है तो शरीर को मार रहे हैं। यह विचारा बैलगाड़ी नहीं चल रही है तो बैलगाड़ी को ही मार रहा है, बैलों की फिक्र नहीं कर रहा। अगर यह पागल है तो वे सारे लोग पागल हैं जो शरीर को ठोंक रहे हैं, मार रहे हैं, आंख फोड़ रहे हैं, कान तोड़ रहे हैं। आप हैरान होंगे, ऐसे लोग हुए हैं जिन्होंने आंखें फोड़ ली इसलिए कि रूप परेशान न करे। जिन्होंने शरीर को सुखाया इसलिए कि शरीर वासना न दे। जिन्होंने अपने अंग काट लिए इसलिए कि वे कहीं उन्हें वासनाओं में न ले जायं। जो शरीर के दुश्मन इसलिए बने कि शरीर जैसे कहीं ले जाता हो। शरीर को तोड़ भी दें तो कुछ न होगा। वह आत्मघात होगा, आत्मसाधना नहीं। सवाल आंखें फोड़ लेने का नहीं है, सवाल आंखें होते हुए रूप पर से हटाने का है। सवाल देखते हुए दृश्य पर से सरक जाने का है। जब भी मैं आपको देख रहा हूं तब तीन चीजें घटित हो रही हैं— उस तरफ आप हैं जिनको मैं देख रहा हूं। इस तरफ मैं हूं जो देख रहा है और हम दोनों के बीच देखने का सम्बन्ध है। तीन चोजें हैं। जो दिखाई पड़ रहा है वह दृश्य, जो देख रहा है वह द्रष्टा और जो सम्बन्ध हो रहा है वह दर्शन। दर्शन के दोनों तरफ दो हैं, एक द्रष्टा है, एक दृश्य है। अभी हम जब देखते हैं तो दृश्य तक हमारा जोर होता है, दृश्य हमारी आंख में होता है। साधक का जोर दृश्य पर न होकर द्रष्टा पर होता है। जब वह देखता है तो उसकी फिक्र नहीं करता जो दिखायी पड़ रहा है। उसका स्मरण रखता है जो देख रहा है। देखते समय उसका स्मरण जो देख रहा है, उसका नहीं जो दिखायी पड़ रहा है। भोजन करते हैं तो उसका स्मरण नहीं, जिसका स्वाद आ रहा है, उसका स्मरण, जिसको स्वाद आ रहा है। चलते वक्त, उठते वक्त, बैठते वक्त, जीवन की समस्त क्रियाओं में उस चैतन्य का स्मरण

जिसके आस-पास ये सारी क्रियाएं घटित हो रही हैं।

इनके निरंतर स्मरण को महावीर ने विवेक साधना कहा है। महावीर ने कहा है, आयुष्मन, विवेक से उठे, विवेक से बैठे, विवेक से सोये, विवेक से भोजन करे। जो होशपूर्वक अपनी सारी क्रियाएं करेगा, इंद्रियों के सारे सम्बन्धों में होश को जाग्रत रखेगा, निरन्तर उसका स्मरण रखेगा जो भीतर बैठा है, उसका नहीं जो बाहर दिखायी पड़ रहा है—क्रमशः उसकी दृष्टि में परिवर्तन उत्पन्न होगा। रूप की जगह वह दिखायी पड़ेगा जो रूप का देखने वाला है। सारी क्रियाओं के बीच उसका अनुभव होगा जो कर्त्ता है। निरंतर के स्मरण, निरन्तर की स्मृति—उठते बैठते, सतत चौबीस घण्टे की जागरुकता के माध्यम से व्यक्ति इंद्रियों के उपयोग के साथ ही इंद्रियों से मुक्त हो जाता, दृश्य विलीन हो जाते हैं, द्रष्टा का साक्षात्कार शुरू हो जाता है। इंद्रियों का निरोध होता है, इंद्रियां रुकती हैं। उनका बहिर्गमन विलीन हो जाता, वे अन्तर्गमन को उपलब्ध हो जाती हैं। इंद्रियों को मिटा नहीं देना, इंद्रियों को दृश्य से, पर से मुक्त कर देना है। उस घड़ी में, जब इंद्रियां पर से मुक्त हों व्यक्ति स्वयं को जानता और अनुभव करता है। उस अतीन्द्रिय स्थिति में आत्मा का अनुभव होता है। इंद्रिय की स्थिति में केवल पदार्थ का अनुभव हो सकता है, इंद्रियां केवल पदार्थ को जान सकती हैं, इंद्रियां आत्मा को नहीं जान सकती हैं। क्योंकि सारा विज्ञान, सारी साइंस इंद्रियों की खोज पर निर्भर है इसलिए उसका स्वाभाविक परिणाम है कि जगत में केवल मैटर है, माइण्ड नहीं है। जगत में केवल पदार्थ है, परमात्म कुछ भी नहीं है। इंद्रियों के पीछे सरकना, इंद्रियों को दृश्य से ऑब्जेक्ट्स से मुक्त करना इतनी ही साधना है। इतनी साधना जिसके जीवन में प्रविष्ट हो, स्मरण पूर्वक जो अपने जीवन को इस भांति साधना में डाले, एक दिन एक विस्फोट होगा उसके भीतर और वह उसको अनुभव कर पायेगा जो वह है। उसको, जो वह है कोई दूसरा नहीं बता सकता है। उसको जो वह है कोई शास्त्र नहीं बता सकते। उसको वह जो है कोई तीर्थंकर भी जबरदस्ती उसे वहां तक नहीं पहुंचा सकता है। प्रत्येक को अपना मार्ग स्वयं स्वचेष्टा से, स्व साधना से पूरा करना होता है और महावीर की क्रांति धार्मिक साधना में जो सबसे महत्वपूर्ण है वह यही है कि उन्होंने कहा—कोई परमात्मा भी नहीं है जिसकी स्तुति और प्रार्थना तुम्हें अपने तक पहुंचा देगी। कोई परमात्मा नहीं है, महावीर की दृष्टि से परमात्मा का आविष्कार हमारे आलस्य का आविष्कार

है। स्तुतियां और भक्ति का आविष्कार हमारे प्रमाद और आलस्य का आविष्कार है। हम बचना चाहते हैं खुद करने से, स्तुति करके निपट लेते हैं। सोचते हैं, ब्रह्म सब कर देगा। हम नहीं करना चाहते कुछ, प्रभु पर सब टाल देते हैं। जो स्वयं कुछ नहीं करना चाहता, कोई प्रभु उसके लिए कुछ भी नहीं कर सकेगा। जीवन में जो भी महत्वपूर्ण है वह ट्रांसफरेबल नहीं है। उसे एक आदमी दूसरे को नहीं दे सकता। वह ट्रांसफरेबल कमोडिटी नहीं है, वह ऐसी वस्तु नहीं है कि मैं आपको दे दूं। जो भी दिया लिया जा सकता है उसका दो कौड़ी का मूल्य है। जो नहीं दिया जा सकता, वही अर्थपूर्ण है, वही जीवन में सार्थक है। न तो प्रेम हम एक दूसरे को ले दे सकते हैं, न प्रकाश, न ज्ञान, न आत्म अनुभूति ले दे सकते हैं। स्वयं ही पाना होगा स्वयं ही खोजना होगा। अपने भीतर ही, अपनी चेष्टा से ही, सतत एकाकी चेष्टा है, स्मरण रखें। मैं कह रहा हूं सतत एकाकी चेष्टा से। इसलिए धर्म अत्यंत वैयक्तिक है। धर्म का कोई संबंध भीड़ भाड़ से नहीं है कि दस आदमी मिलकर धार्मिक हो जायं। दस आदमी मिलकर धार्मिक होने का कोई सम्बन्ध नहीं है, एक आदमी को अपने साथ कुछ करना होगा। अकेले अपने साथ करना होगा। न कोई सहयोगी है, न कोई संगी है, न कोई साथी है। वहां यूनान में एक विचारक हुआ है प्लेटूनस। उसने एक शब्द उपयोग किया है "फ्लाइट आफ दी अलोन टु दी अलोन।" अकेले की, अकेले तक उड़ान। अकेले की अकेले तक की उड़ान है। कोई संगी नहीं, कोई साथी नहीं, कोई सहयोगी नहीं। कोई नहीं, अकेले आपको प्रवेश करना होगा। अकेला होना होगा तो आप उसको जान पायेंगे जो आप अकेले हैं। अकेले होने का नाम समाधि है, जब आप बिलकुल रह गये, आप ही रह गए, और कोई भी नहीं है, केवल आप रह गए, उसी का नाम समाधि है। जब न कोई मंत्र है, न तंत्र है, न कोई स्मरण है, न कोई विचार है, न कोई रूप है, न कोई गंध है। जहां इन्द्रियों से उपलब्ध कुछ भी नहीं है, मात्र अकेले, सिर्फ सिम्पल एण्ड प्योर एक्जीस्टेंस। वह अकेली आपकी सत्ता मात्र रह गई। वहीं एक विस्फोट है, वहीं एक क्रांति है। वहीं एक ब्वायलिंग प्वाइंट है, वहीं एक उत्ताप का बिन्दु उपलब्ध होता है जहां आप मनुष्य नहीं रहते और परमात्मा से संयुक्त हो जाते हैं। ईश्वर करे, प्रत्येक के जीवन में उत्ताप का वह बिन्दु आये जो परमात्मा से संयुक्त हो जाय। वह संयोग ही कृतार्थता, आनन्द, अनुभूति, प्रेम और शांति से व्यक्ति को भर देता है। उस अनुभव के बाद ही जीवन में सारे फूल खिलते हैं— अहिंसा के, सत्य के, ब्रह्मचर्य के।

ये साधे नहीं जाते । आत्मा का अनुभव हो, सब फूल खिल जाते हैं । कोई फूल साधा नहीं जाता । कोई फूल पौधों से निकाले नहीं जाते । आत्मा भीतर बोध से भर जाती है, सारा जीवन सदाचार से भर जाता है । नीति धर्म का परिणाम है । ईश्वर करे आपका जीवन आत्म बोध को उपलब्ध हो जाय ताकि आपके जीवन के सारे वाह्य रूपों में परमात्मा समाहित हो जाय । उस घड़ी को, उस आनन्द की घड़ी को कोई शब्द नहीं है कि कह सकूं, कोई ध्वनि नहीं है, जिसे आज तक विस्तारित कर सकूं, कोई इशारा नहीं है कि आपको उस तरफ इंगित कर सकूं । कोई रास्ता नहीं है इसलिए धर्म आज तक कहा नहीं जा सका । सब शास्त्र कहकर असमर्थ हो जाते हैं ।

असल में जो भी निःशब्द में और मौन में उपलब्ध होता है, वाणी के ऊपर उपलब्ध होता है, उसे वाणी में कहा नहीं जा सकता । मैंने भी इतनी देर कहा ही और इतने अनंत वर्षों से इतने-इतने लोगों ने कहा है । अगर धर्म कहा नहीं जा सकता तो क्यों कहा जाय ? धर्म तो नहीं कहा जा सकता, सत्य तो नहीं कहा जा सकता, लेकिन अगर भीतर वह प्रतीति अनुभव होती हो तो उसकी प्यास को संवेदित किया जा सकता है । उसकी प्यास को विस्तृत किया जा सकता है, प्यास को संक्रामक किया जा सकता है । इतनी देर मैंने जो कहा उसमें सत्य कुछ भी नहीं है, सिवाय इसके कि अगर आप में थोड़ी-सी प्यास इसके जानने की पैदा हो ।

ईश्वर करे, आप प्यासे हों, अतृप्त हों, असंतुष्ट हों, यही मेरी कामना है ताकि आप उसे पा सकें जो सब संतोष दे देता है । ताकि आप उस सागर को पा सकें जहां सारी प्यास मिट जाती है । मेरी इन बातों को इतने प्रेम और शांति से सुना, उसके लिए बहुत-बहुत अनुग्रहीत हूं और अन्त में सबके भीतर बैठे परमात्मा को प्रणाम करता हूं ।

● संकलन संपादन *स्वामी धर्म स्वभाव*
नई दिल्ली–१६

"तर्क साधन बन सकता है, साध्य नहीं । इसलिए तर्क के आगे-पीछे कहीं न कहीं मैं आपको अतर्क में ले चलना चाहता हूं । वही मुक्ति और आनन्द है ।"

— भगवान रजनीश

अद्भुत योगी

अद्भुत योगी आयो जग में, अद्भुत योगी आयो ॥

ज्ञान भक्ति योगनको जिनमें, अजब रंग मिलायो।
फिर भी योगत्रयातीत होके, शून्य-मंडल में समायो... ॥ जग में

नहीं बुद्ध नहीं कृष्ण महावीर, मुहम्मद, ईसु न कहायो।
अपने हीरदे सबको रक्खा, एक मूरत बनी आयो... ॥ जग में

साधु रक्षक, अधर्म का भक्षक, धर्म रूप धरी छायो।
पाखंडियों की पैनी दृष्टि में, महाकाल दिखलायो... ॥ जग में

हलचल हलचल मच गई जग में, सब ओर शोर मचायो।
आनन्द-शीला पर आसन कीन्हों, अहालेक अजर जगायो... ॥ जग में

वाणी जिनकी अमृत धारा, पी के को न छरायो।
ज्यों ज्यों पीरा अधिकतम बाढ़े, ऐसो रंग लगायो ... ॥ जग में

धन्य धरा जग में भारत की, भगवन् जन्म धरायो।
धर्मग्लानि को दूर करनकूं, "रजनीश" रूप में आयो ... ॥ जग में

महान दिन यह गीता-जयंति, 'कृष्ण वेदांत' कहायो।
साधु बनकर दिक्षा लीन्ही, भगवन आशिष पायो ... ॥ जग में

● *साधु कृष्ण वेदांत*
सुरेन्द्रनगर

नया रुप बनकर अरुप मिटता जाता हूं

आज नहीं प्रिय कल मैं तो गिरने वाला हूं
गिरे सृजन के वृक्ष छिपे सब बीज जगत के
और अकेला रहा देखता विश्व प्रलय के
मौत देह के द्वार खड़ी खटखटा रही है
अन्तर की आवाज प्राण को बुला रही है
अरे ! समर्पण यह कैसा सब छिना जा रहा
तोड़ सभी रिश्ते नाते अपनत्व मोह को
यह कैसा आकर्षण सब कुछ खिचा जा रहा
आज सभी छिपने को परदे में होने को
यह अज्ञात श्वांस के झूले पर चढ़ने को
तिव्र गहनतम नई चेतना का संदेश मिलन के पथ पर
अरे शक्ति है ! आज थकन लेटी जीवन के अंगारों पर
भींग रही अपने बेटों से ज्वलित कामना
आज पुरातन मिटा ध्यान पर इसे थामना
यह मेरा बचपन भुज पाश बढ़ाओ आगे
यौवन की देहरी पर गंध तुम्हें देता हूं
एक नया कह कहा नया आनन्द जगाओ
आज ध्यान की सीमाओं पर आलिंगन मधु प्यार चखाओ
आज नहीं प्रिय कल मैं तो गिरने वाला हूं

● *योग अशेष*, रतलाम

गीत

मन के पार

तैरकर डूबा, न तिरकर बह रहा हूं तथ्य में
मौन में कहता, जिसे मैं कह न पाया कथ्य में

हो रहा सब कुछ स्वयं अस्तित्व-क्रम में हो रहा
मानकर जिनमें चला था स्वयं के कर्तृत्व को
सांस जैसे चल रही है, फूल जैसे खिल रहे
मृत्यु होते ही अहं की पा गया अमरत्व को

गीत-पंछी गा रहा है, प्रीत-वंशी बज रही
हो गई लीलामयी सब सृष्टि अन्तः नृत्य में

मैं खड़ा तट पर विचारों को प्रवाहित देखता
देखता निस्संग बन जग चल रहा है रील-सा
रह गई मन की तरंगें पार मेरी दृष्टि के
हो गया हूं मैं अचंचल नील गहरी झील-सा

विश्व है मन में, मनस के पार है कुछ भी नहीं
मैं विचरता हूं उसी प्रभुमय जगत के सत्य में

शून्य के सर में नहाकर मैं पुलक से हूं भरा
कौन आनन्दित विचारों से बुने मन-पाश में
मैं नहीं हूं और बिम्बित वस्तुएं होती रहीं
रिक्तता से युक्त मेरे दर्पणी आकाश में

सब पकड़कर खो चुका अब छोड़कर सब पा गया
आज मैं सब कर रहा हूं पर नहीं हूं कृत्य में

● साधु योग प्रीतम
भीलवाड़ा (राज०)

सम्यक्-त्याग, ★ सद्गुरु-सेवा और ★★ सत्संग के आन्तरिक रहस्य ★★★

(पर्यूषण व्याख्यानमाला सन् १९७२, बम्बई में भगवान श्री के १८ प्रवचन " महावीर-वाणी " पर हुए हैं। प्रस्तुत अंश १९ सितम्बर, १९७२ को हुए १६ वें प्रवचन का अन्तिम हिस्सा है। सन् १९७१ के भगवान श्री के १८ पर्यूषण प्रवचन पुस्तक " महावीर-वाणी " [पृष्ठ ६१२, मूल्य ३० रुपये] के रूप में प्रकाशित हो चुके हैं। सन् १९७२ के १८ प्रवचन " महावीर-सूत्र " के नाम से छपने के लिए तैयार हो रहे हैं।

प्रस्तुत अंश ग्रंथ : " महावीर-सूत्र " की एक झलक दे पाये, इस आशा से प्रस्तुत है। — सम्पादक)

' जो मनुष्य सुन्दर और प्रिय भोगों को पाकर भी पीठ फेर लेता है, सब प्रकार से स्वाधीन भोगों का परित्याग कर देता है, वही सच्चा त्यागी है। '

भोग मौजूद न हो, भोग का उपाय न हो, भोग को भोगने की क्षमता न हो, असहाय हो आदमी, तब भी त्याग कर सकता है। लेकिन महावीर कहते हैं, तब त्याग का कोई भी अर्थ नहीं है। **जो भोग ही नहीं सकता, उसके त्याग का क्या अर्थ है ?** जिसके पास भोगने की सुविधा नहीं, उसके त्याग का अर्थ ? उसका त्याग कोई भी अर्थ नहीं रखता।

त्याग का सभी अर्थ भोग के संदर्भ में है, इसलिए बूढ़ा जब ब्रह्मचर्य का व्रत ले लेता है, तो उसका कोई भी अर्थ नहीं है। बूढ़ा अपने को धोखा दे रहा है। जवान जब ब्रह्मचर्य का व्रत ले लेता है, तो उसकी कोई सार्थकता है। जब मरता हुआ आदमी अन्न-जल का त्याग कर देता है, जब डाक्टर बता देते हैं कि घड़ी दो घड़ी से ज्यादा नहीं—जब बिलकुल पक्का हो जाता है कि मर जाएगे—अब नहीं रहेंगे, तो अन्न-जल के त्याग करने का कोई भी मूल्य नहीं है। लेकिन जो पूरी तरह स्वस्थ रहते हुए अन्न-जल का त्याग कर देता है और मृत्यु की प्रतीक्षा करता है आनन्द पूर्वक, तो उसके त्याग का कोई अर्थ है।

आप अपनी बेबसी में जब त्याग करते हैं, तो अपने को धोखा दे रहे हैं। अपने को दे सकते हैं, लेकिन जगत की व्यवस्था को आप धोखा नहीं दे सकेंगे। इसे ठीक से समझ लें।

बेबसी का नाम त्याग नहीं है, **सामर्थ्य का नाम त्याग है।** इसलिए त्याग के पहले समर्थ हो जाना अत्यन्त जरूरी है। और त्याग के क्षण में सामर्थ्य हो, तो ही त्याग में त्वरा, तेजी, चमक और ओज उत्पन्न होता है। इसलिए महावीर ने हिन्दू व्यवस्था की जो वर्ण की कल्पना थी, आश्रम की कल्पना थी, वह बिलकुल तोड़ दी। और उन्होंने कहा कि जब प्रखर हो ऊर्जा जीवन को भोगने की, तभी रूपान्तरण है। जब सारा जीनन बहता हो काम-वासना की तरफ तभी लौट पड़ना।

जब बन्दूक रिक्त हो जाती हो, जब गोली चल चुकती हो, तब बन्दूक अहिंसक हो जाए—चली चलाई बन्दूक कहे कि अब मैंने अहिंसा व्रत ले लिया है, तो उसमें कोई भी सार्थकता नहीं है। लेकिन हम यही करते हैं। या तो हमारे पास सुविधा नहीं होती, तो हम त्याग कर देते हैं या हम असमर्थ हो जाते हैं सुविधा भोगने में, तो हम त्याग करते हैं।

त्याग का बिन्दु वही है, जो भोग का बिन्दु है। **त्याग और भोग एक ही क्षण की घटनायें हैं।** रुख अलग है, दिशा अलग है, लेकिन क्षण एक है। क्षण दो नहीं हैं। त्याग अलग दिशा में जाता है, भोग अलग दिशा में। लेकिन जहां से यात्रा होती है, वह बिन्दु एक है।

इसलिए महावीर कहते हैं कि सुन्दर और प्रिय भोगों को पाकर भी जो पीठ फेर लेता है— सब प्रकार से स्वाधीन— किसी परतन्त्रता में नहीं, किसी परवशता में नहीं, स्वतन्त्र रूप से परित्याग कर देता है। परित्याग करना नहीं पड़ता, कर देता है। यह उसका संकल्प है। संकल्प से त्याग फलित होना चाहिए, तो ही सामर्थ्य बढ़ती है, शक्ति बढ़ती है। असमर्थता से त्याग होता है, तो दीनता बढ़ जाती है।

जो मनुष्य किसी परतन्त्रता के कारण वस्त्र, गन्ध, अलंकार, स्त्री और शयन आदि का उपभोग नहीं कर पाता, वह सच्चा त्यागी नहीं कहलाता।

'सद्गुरु तथा अनुभवी वृद्धों की सेवा करना, मूर्खों के संसर्ग से दूर रहना, एकाग्र चित्त से सत् शास्त्रों का अभ्यास करना और उनके गम्भीर अर्थ का चिन्तन करना, और चित्त में धृतिरूप अटल शान्ति प्राप्त करना, यह निःश्रेयस का मार्ग है।'

इस सूत्र के दो हिस्से हैं। एक—त्याग क्या है ? और दूसरा—त्याग के बाद क्या करने योग्य है ?

त्याग—सिर्फ एक निषेध नहीं है कि छोड़ दिया और बात खतम हो गयी। छोड़ने से कुछ मिलता नहीं, छोड़ने से सिर्फ बाधायें कटती हैं। छोड़ने से कुछ उपलब्धि नहीं होती, छोड़ने से भटकाव बचता है। छोड़ने से गलत यात्रा रुकती है, सही यात्रा शुरू नहीं होती। बहुत लोग इस भ्रांति में रहते हैं, वे यह सोचते हैं कि अब मैंने पत्नी छोड़ दी, घर छोड़ दिया, धन छोड़ दिया—अब और क्या करना है ? हमारे अनेक साधु इसी निषेध में जीते हैं। और हम इसी निषेध को बड़ा मूल्य देते हैं कि बेचारे ने पत्नी छोड़ दी, घर छोड़ दिया, बच्चे छोड़ दिए— महात्यागी है।

फिर पाया क्या ? यह तो छोड़ दिया, बहुत अच्छा किया। फिर पाया क्या ? फिर कुछ मिला भी ?

अगर पत्नी छोड़ दी और पत्नी से श्रेष्ठतर कुछ मिला नहीं, तो क्या अर्थ हुआ छोड़ने का ? जिसने पत्नी छोड़ दी और कुछ मिला भी नहीं उसे, तो उसके मन में पत्नी की तरफ दौड़ जारी रहेगी, क्योंकि इस अस्तित्व में खाली जगह को बर्दाश्त करने का उपाय नहीं है। प्रकृति खाली जगह को बर्दाश्त नहीं करती। अन्तस जीवन में भी खाली जगह बर्दाश्त नहीं होती। अगर पत्नी की जगह परमात्मा न आ जाए, तो पत्नी झांकती ही रहेगी उस खाली जगह में। झाँकने की तरकीबें बहुत हो सकती हैं।

अगर धन छोड़ दिया और धर्म भीतर उठा नहीं, तो इस छोड़े हुए आदमी की स्थिति त्रिशंकु की हो जायगी। इसलिए हमारे साधु छोड़— तो देते हैं, पा कुछ नहीं पाते। फिर परेशान होते हैं। और वे इसी आशा में छोड़ देते हैं कि छोड़ने से ही पाना हो जाएगा। **छोड़ना आवश्यक है, लेकिन पर्याप्त नहीं।**

मैंने कुछ छोड़ दिया— अगर में पकड़े रहता, तो जो-जो भूलें मुझसे होतीं, वह अब नहीं होंगी। यह निषेधक है, लेकिन अब मुझे कुछ करना होगा। क्या करना ?

महावीर कहते हैं कि सद्गुरु अनुभवी वृद्धों की सेवा— करना।

महावीर बहुत ही सतर्क बोलते हैं, क्योंकि उन्हें पक्का पता है कि जो सुनने वाले लोग हैं, उन्हें जरा-सा भी छिद्र मिल जाए, तो इस छिद्र में से वे अपना बचाव खोज लेते हैं।

महावीर, 'वृद्ध की सेवा' नहीं बोलते। क्योंकि वृद्ध होने से कोई ज्ञानी नहीं होता, सिर्फ बूढ़ा होने से कोई ज्ञानी नहीं होता। बूढ़े होते जाना तो प्राकृतिक घटना है, उसमें आपका काम ही क्या है ? लेकिन बूढ़े ! बूढ़े होकर समझते हैं कि कुछ पा लिया !

सिर्फ खोया है, कुछ पाया नहीं— जिन्दगी खोई है। मगर वे समझते हैं कि बूढ़े हो गये — कुछ पा लिया ! इस बूढ़े होने में उनका हाथ ही क्या है ? उन्होंने तो पूरा चाहा था कि बूढ़े न हों— फिर भी हो गए। अपनी सब कोशिश की थी—फिर भी हो गए। अब इसको ही वे गुण मान रहे हैं। यह भी कोई योग्यता है !

तो महावीर कहते हैं, 'अनुभवी वृद्ध की सेवा करना' बड़ा मुश्किल है ! वृद्ध और अनुभवी ! बड़ी कठिन बात है ! बूढ़े तो सभी हो जाते हैं, अनुभवी सभी नहीं हो पाते। अनुभव का मतलब है, वह जो-जो जीवन में हुआ, वह सिर्फ हुआ नहीं, उससे कुछ सीखा भी गया।

अब एक बूढ़ा आदमी भी अगर क्रोध करता है, तो अनुभवी नहीं है। क्योंकि जिन्दगी भर क्रोध करके अगर इतना भी सीख नहीं पाया कि क्रोध व्यर्थ है, तो यह जिन्दगी बेकार गई। एक बूढ़ा आदमी भी उन्हीं क्षुद्र बातों में उलझा हो, जिनमें बच्चे उलझे होते हैं, तो समझना कि यह आदमी बूढ़ा तो हो गया, पर अनुभवी बूढ़ा नहीं हुआ। सिर्फ बुढ़ा गया, सिर्फ उमर पक गई, बाल पक गए, लेकिन धूप में पक गए— अनुभव में नहीं।

आप हैरान होंगे कि बूढ़े भी वही करते रहते हैं, जो बच्चे करते रहते हैं। हालांकि बूढ़े करते हैं, तो निश्चित ही ज्यादा सोफिस्टिकेटेड (कुशल) ढंग से करते हैं। बच्चे उतने ढंग से नहीं करते।

बच्चे इतने गम्भीर भी नहीं होते, ये भारी गम्भीर भी हैं। बस, इतना ही फर्क पड़ा है। बच्चों के गुड्डा-गुड्डी के मामले में कभी कोई हिन्दू-मुस्लिम दंगा नहीं होता। बूढ़ों के मामलों में हो जाता है। बूढ़े ज्यादा उपद्रवी हैं। वे जो भी करते हैं उसको खेल नहीं मान सकते। क्योंकि उन्हें उमर का अनुभव है। लेकिन सीखा उन्होंने कुछ भी नहीं। वहीं के वहीं खड़े हैं। कहीं कोई अन्तर नहीं पड़ा। वे वहीं खड़े हैं, उनकी चेतना वहीं खड़ी है, शरीर सिर्फ बूढ़ा हो गया है।

इसलिए महावीर ने कहा : 'अनुभवी, वृद्ध, सद्गुरू'।

सिर्फ गुरु नहीं कहा, साथ में जोड़ा— सद्गुरु।

क्या फर्क है गुरु और सद्गुरु में ?

गुरु से मतलब सिर्फ इतना ही है कि जो आपको खबर दे दे, सूचना दे दे, शास्त्र समझा दे। उसके स्वयं के अस्तित्व से इसका कोई जरूरी सम्बन्ध नहीं है। **सद्गुरु से मतलब है, जो स्वयं शास्त्र है।** वह जो कह रहा है, किसी से सुनकर नहीं कह रहा है। यह उसका अपना अनुभव, अपनी प्रतीति है। वेद ने ऐसा कहा है—ऐसा नहीं। गीता में ऐसा कहा है, इसलिए ठीक होना चाहिए — ऐसा नहीं। महावीर ने कहा है, इसलिए ठीक होगा ही — ऐसा नहीं।

ऐसा जो कहता है, वह शिक्षक है— साधारण ! लेकिन जो अपने अनुभव में परखता है — और जो अपने अनुभव में देखता है — अगर कभी कहता है कि वेद में ठीक कहा है, तो इसलिए कहता है कि उसका अनुभव भी कहता है। वेद कहता है — इसलिए ठीक नहीं, मेरा अनुभव कहता है — इसलिए वेद ठीक है।

इस फर्क को आप समझ लें।

वेद कहता है, इसलिए मेरा अनुभव ठीक है— यह उधार है आदमी। मेरा अनुभव कहता है इसलिए वेद ठीक या वेद गलत है— यह आदमी वहीं खड़ा है, ज्ञान के स्रोत पर, जहां से खुद की आंख से दिखाई पड़ता है। किताब नम्बर दो हो जाती है, शास्त्र नम्बर दो हो जाता है। **गुरु के लिए शास्त्र होता है — नम्बर एक, सद्गुरु के लिए शास्त्र होता है नम्बर दो।** शास्त्र भी प्रमाणिक होता है इसलिए कि मेरा अनुभव शास्त्र को गवाही देता है—मैं हूं गवाह।

जीसस से कोई पूछता है कि पुराने शास्त्रों के सम्बन्ध में तुम्हारा क्या कहना है। जीसस कहते हैं, 'आई एम द विटनेस'—बड़ी मजे की बात कहते हैं—'मैं हूं गवाह'—जो मैं कहता हूं, उससे मिलान कर लेना—मेरे अनुभव से जो बात मेल खा जाए, तो समझना कि वह ठीक है, नहीं तो गलत है।

सदगुरु का मतलब है—जो सत् हो गया। जो अब शिक्षाएं नहीं दे रहा है, स्वयं अब शिक्षा है। गुरु एक शृंखला है—**एक परम्परा है।** गुरु एक काम कर रहा है। **सदगुरु एक जीवन है।**

इसलिए महावीर ने कहा : 'सद्गुरु अनुभवी वृद्धों की सेवा।' महावीर कहते हैं : सेवा के अतिरिक्त सत्संग नहीं है। क्योंकि सेवा से ही निकट आना होगा। सेवा से ही विनम्रता होगी। सेवा से ही चरणों में झुकना होगा, सेवा से आन्तरिकता होगी, सेवा से धीरे-धीरे अहंकार गलेगा। सद्गुरु की उपस्थिति और शिष्य में अगर सेवा की वृत्ति हो, तो वह घटना घट जाएगी, जिसे हम आन्तरिक मिलन कहते हैं। सिर्फ बैठकर सुनने से नहीं हो पाएगा।

महावीर कहते हैं, जिससे सीखना हो, जिसे अपने जीवन के भीतर ले लेना हो, उसकी सेवा में डूब जाना पड़ेगा।

महावीर ने सेवा को बड़ा मूल्य दिया है। लेकिन यह सेवा—जिसको हम आज सर्विस कहते है, उससे बहुत भिन्न हैं। हम भी सेवा की बात करते हैं। रोटरी क्लब अपने सिम्बल में लिखता है—सर्विस (सेवा)। क्रिश्चियन मिशनरी सेवा कर रहे हैं। सर्वोदयवादी भी सेवा कर रहे हैं। 'गरीब की सेवा करो', 'दुखी की सेवा करो'—यह सेवा सामाजिक घटना है। महावीर की सेवा साधना का एक अंग है।

महावीर दुखी की सेवा के लिए नहीं कह रहे हैं; गरीब की सेवा के लिए नहीं कह रहे हैं। महावीर कह रहे हैं, 'अनुभवी, वृद्ध, ज्ञानी, सद्गुरु की सेवा।' इस सेवा में और रोटरी क्लब वाली सेवा में फर्क है। दूसरी सेवा केवल एक सामाजिक बात है। अच्छी है! कोई करे—हर्जा नहीं है। लेकिन महावीर की सेवा का अर्थ बिलकुल दूसरा है। वह सेवा साधना का एक अंग है।

उसकी सेवा—जो तुमसे सत्य की दिशा में आगे जा चुका है। जब तुम उसकी सेवा के लिए झुकोगे (क्योंकि सेवा में झुकना पड़ता है।) तब उसकी ऊंचाइयों से जो बरसा हो रही है, वह तुममें प्रवेश कर जाएगी। जब तुम उसके चरणों में सिर रखोगे, तो जो उसमें प्रवाहित हो रहा है ओज, वह तुम्हें भी छूएगा। तुम्हारे रौएं-रौएं को स्नान करा जाएगा।

यह बड़ा सोचने जैसा मामला है। इस पर तो बहुत चिन्तन करने जैसी बात है। क्योंकि जब भी आप किसी की सेवा कर रहे हैं, तो आपको झुकना पड़ता है। और जिसकी आप सेवा कर रहे हैं, वह आप में प्रवाहित हो सकता है।

यह खतरनाक भी है। अगर आप ऐसे आदमी की सेवा कर रहे हैं, जो आपसे चेतना की दृष्टि से नीचे है, तो आपको नुकसान होगा। अगर आपसे ऊंची चेतना के व्यक्ति से आप को लाभ होगा, तो आपसे नीची चेतना के व्यक्ति से आपको नुकसान होगा। इसलिए हमने कहा है कि वृद्ध जवानों की सेवा न करें।

हमने कहा है कि मां-बाप बेटे के पैर न छुएं, बेटा छुएगा। इसके पीछे कोई कुल एक ही कारण है कि श्रेष्ठतर प्रवाहित हो। कहीं निकृष्ट श्रेष्ठ के साथ संयुक्त होकर उसे विकृत और अशुद्ध न कर दे।

एक बहुत महत्वपूर्ण बात आपको इस संदर्भ में कहूं—यही कारण है कि भारत ने ईसाइयत जैसी सेवा की धारणा विकसित नहीं की। क्योंकि भारत को सेवा के सम्बन्ध में आन्तरिक गहरे अनुभव हैं। पश्चिम में बहुत लोग हैरान होते हैं कि भारत के धर्म कैसे हैं! गरीब की सेवा की कोई बात ही नहीं है! बीमार की सेवा की कोई बात ही नहीं है। रुग्ण की, कोढ़ी की सेवा की कोई बात ही नहीं है। इस सेवा के लिए—इस बाबत कुछ है ही नहीं इनके पास। ये धर्म कैसे हैं!

गान्धी जी बहुत प्रभावित थे ईसाइयत से, तो उन्होंने कहा कि सेवा धर्म है। हमने कभी नहीं कहा इस मुल्क में—न महावीर ने, न बुद्ध ने। और ये सब सेवा को धर्म कहने वाले ऐसे लोग महावीर के ऐसे वचनों को उठाकर गलत अर्थ निकालते हैं। महावीर जब सेवा शब्द का उपयोग कर रहे हैं तो उनका प्रयोजन ही अलग है। हमने जानकर सेवा की ऐसी बात नहीं कही है। शूद्र को हमने नीचे रखा है, ब्राह्मणों को ऊपर रखा है—इस आशा में कि शूद्र ब्राह्मण की सेवा करें—ब्राह्मण शूद्र की नहीं। बहुत अजीब लगता है आज के चिन्तन की हवा में कि यह क्या बात हुई? अगर ब्राह्मण सच्चा ब्राह्मण है, तो शूद्र की सेवा करे, क्योंकि सेवा से ही वह ब्राह्मण होगा। लेकिन हमारे लिए मूल्य शूद्र और ब्राह्मण का, सामाजिक नहीं—आत्मिक है। हम शूद्र उसको कहते हैं, जो शरीर में ही जी रहा है, जिसका और कोई जीवन नहीं और ब्राह्मण हम उसे कहते हैं, जो ब्रह्म में जी रहा है, जिसका और कोई जीवन नहीं। जो ब्रह्म में जी रहा है, उसकी कोई भी सेवा करे तो, उसे लाभ होगा। सेवा का अर्थ है—झुक जाना। और जो झुकता है, वह गड्ढा बन जाता है। और जो गड्ढा बन जाता है, उसमें वर्षा संग्रहीत हो जाती है। तो महावीर कहते हैं, 'सद्गुरु अनुभवी वृद्धों की सेवा।'

'मूर्खों के संसर्ग से दूर रहना।'

मगर मूर्खों का संसर्ग बड़ा प्रीतिकर होता है। फायदा यह होता है कि मूर्खों के बीच आप बुद्धिमान मालूम पड़ते हैं। इसलिए हर आदमी मूर्खों की तलाश करता है। जब तक आपको दो-चार मूर्ख न मिल जाएं, तब तक आप बुद्धिमान नहीं—और तो कोई उपाय ही नहीं है बुद्धिमानी का—एक ही उपाय है कि दो चार मूर्ख इकट्ठे कर लो।

इसलिए कोई पति अपने से बुद्धिमान पत्नी पसंद नहीं करता। अपने से ज्यादा पढ़ी-लिखी हो, ज्यादा समझदार हो, तो पसन्द नहीं करता, क्योंकि फिर पति को मजा नहीं आएगा बुद्धिमान होने का। मूर्ख पत्नी पसन्द की जाती है। फिर, मूर्ख जो कर सकती है, वह करती है। वह सहा जा सकता है, लेकिन अहंकार को रस आता है।

हम सब ऐसी कोशिश करते हैं कि अपने से छोटे तल के लोग हमारे आस-पास इकट्ठे हो जाएं, उसमें हमें रस आता है, मजा आता है। क्या मजा है उनके बीच ? वह जो अकबर के सामने बीरबल ने किया था। एक लकीर खेंच दी थी—छोटी लकीर के सामने एक बड़ी लकीर खींच दी थी। अकबर ने कहा था : इस लकीर को बिना छुए छोटा कर दो, तो बीरबल ने बड़ी लकीर नीचे खींच दी थी। दरबार में कोई भी उसे छोटा न कर सका था। सभी ने कहा था : बिना छुए कैसे छोटा करें। जब छोटा करना है, तो छूना पड़ेगा। बीरबल ने कहा, छूने की कोई जरूरत नहीं। उसने बड़ी लकीर खींच दी थी। लकीर छोटी हो गयी।

हम सब होशियार हैं उतने, जितना वीरबल था।

अपने को बुद्धिमान कैसे कर लूं ? सीधा रास्ता है, अपने से छोटी लकीरें आस-पास इकट्ठी कर लो, आप बड़ी लकीर हो गए।

महावीर कहते हैं : 'मूर्खों के संसर्ग से दूर रहना'। क्योंकि वह संसर्ग मंहगा है। आपकी लकीर बड़ी भला दिखाई पड़े, लेकिन वे जो छोटी लकीरें इकट्ठी हो गई हैं, वे धीरे-धीरे आपकी लकीर को और छोटा करती जाएंगी। जिनके साथ आप रहते हैं, धीरे-धीरे आप उन जैसे होने लगते हैं। साथ संक्रामक है। जिनके साथ आप रहते हैं, धीरे-धीरे वे आपको बदलने लगते हैं। उनसे बचना मुश्किल है। इतना मुश्किल है बचना कि साथ जिनके रहते हैं,

उनसे तो बचना मुश्किल है ही, जिनके आप दुश्मन हो जाते हैं, उन तक से बचना मुश्किल हो जाता है, क्योंकि उनका भी संग-साथ हो जाता है—भीतर।

मुहम्मद अली जिन्ना गवर्नर जनरल हुए। उन्होंने, जैसा गवर्नर जनरल को करना चाहिए, एक अंग्रेज ए० डी० सी० रखा। उस अंग्रेज ए० डी० सी० ने जिन्ना को बहुत समझाया कि आपकी सुरक्षा का ठीक इन्तजाम होना चाहिए, और आपके बंगले के चारों तरफ बड़ी दीवार होनी चाहिए। जिन्ना ने कहा कि मैं कोई तुम्हारे गवर्नर-जनरल जैसा गवर्नर-जनरल नहीं हूं। मैं एक लोकप्रिय नेता हूं। मुझे कौन मारने वाला है ? कोई जरूरत नहीं है — बड़ी दीवार की और सुरक्षा की। मेरा कोई दुश्मन नहीं है। मैं पाकिस्तान का जन्मदाता हूं। तुम्हारे गवर्नर जनरल को दीवार की जरूरत थी, क्योंकि तुम हमारे दुश्मन थे। मुझे कोई जरूरत नहीं है।

ए० डी० सी० बहुत समझाता रहा; पर जिन्ना नहीं माना। जिस दिन गान्धी जी की हत्या हुई और खबर पहुंची, जिन्ना अपने बगीचे में बैठा था। जैसे ही खबर मिली, जिन्ना चिन्तित हो गए, परेशान हो गए। उठकर अपने ए० डी० सी० से कहा : पूरी खबर का पता लगाओ कि क्या हुआ ! और सीढ़ियां चढ़ते वक्त लौटकर अपने ए०डी०सी० से कहा : वह जो दीवार के सम्बन्ध में तुम कहते थे, उसका इन्तजाम कर लो।

जिन्ना जीवन भर गान्धी जो करें, उससे ही बंधा हुआ चलते रहे। चाहे 'हां' करें, चाहे 'ना'। जिन्ना तब तक कोई उत्तर न देगा, जब तक गांधी क्या कहते हैं, यह पता न चल जाए। सारी पॉलिटिक्स इतनी थी— जिन्ना की वह गांधी जी की दुश्मनी से तय होती थी।

यह बड़े मजे की बात है कि जिन्दगी भर जिन्ना गांधी की दुश्मनी से तय हुआ और गांधी की मौत से भी जिन्ना तय हुआ। उस दिन के बाद फिर कभी भी जिन्ना ने नहीं समझा कि मैं लोकप्रिय नेता हूं और मुझे सुरक्षा की कोई जरूरत नहीं। दीवार खड़ी कर दी गई, सारा इन्तजाम कर दिया गया।

यह बड़ी हैरानी की बात है कि गांधी और जिन्ना में इतनी दुश्मनी ! लेकिन यह दुश्मनी भी एक दूसरे को तय करती है। मित्रता तो एक दूसरे को बनाती ही है, दुश्मनी तक भी बनाती है, क्योंकि **दुश्मनी भी एक तरह की मित्रता है**। जिनके साथ हम हैं— या जिनके विरोध में हम हैं, वे हमें निर्मित करते हैं।

महावीर कहते हैं 'मूर्खों के संसर्ग से दूर रहना, एकाग्र चित्त से सत् शास्त्रों का अभ्यास करना।'

मूर्ख कौन है ? क्या वे — **जो कुछ नहीं जानते ? वे मूर्ख नहीं हैं, अज्ञानी हैं।** उनको मूर्ख कहना उचित नहीं है। **मूर्ख वे हैं, जो बहुत कुछ जानते हैं— बिना कुछ जाने,** उनसे बचना।

एक आदमी आपको बता रहा है कि ईश्वर है, और उसे कोई पता नहीं। उससे पहले पूछना कि तुम्हें पता है ! उसे कुछ पता नहीं है। वह आपको बता रहा है। एक आदमी बता रहा है कि ईश्वर नहीं है। उससे पूछना, तूने पूरी-पूरी खोज कर ली है ?

एक ईसाई पादरी मुझे मिलने आए थे। उन्होंने कहा कि 'गॉड इज इनडिफाइनेबल', ईश्वर अपरिभाष्य है— अनन्त, असीम। उसकी कोई थाह नहीं ले सकता। मैंने उनसे पूछा कि तुम थाह लेकर कह रहे हो कि बिना थाह लिए कह रहे हो। वे जरा मुश्किल में पड़ गए। मैंने कहा कि अगर तुमने पूरी थाह ले ली है, और तब तुम कह रहे हो कि अथाह है, तब तुम्हारा वचन बिलकुल गलत है, क्योंकि थाह तो तुम ले चुके। अगर तुम कहते हो कि मैं पूरी थाह नहीं ले पाया, तो तुम इतना ही कहो कि मैं पूरी थाह नहीं ले पाया, पता नहीं एक कदम आगे थाह हो ! तुम अथाह कैसे कह रहे हो ? और तुम कहते हो कि ईश्वर की कोई परिभाषा नहीं हो सकती। यह परिभाषा हो गई, तुमने परिभाषा कर दी। तुमने ईश्वर का एक गुण बता दिया कि उसकी कोई परिभाषा नहीं हो सकती। यह तुम क्या कह रहे हो ?

तो उन्होंने फौरन ही कहा, बाइबल में ऐसा लिखा है। मैंने कहा, बाइबल में लिखा होगा। तुम्हें पता है ? यहीं सारी बात अटकती है।

दुनिया ज्ञानी मूर्खों, लर्नेड इडियट्स से भरी है। पढ़े-लिखे गंवारों का कोई अन्त ही नहीं, उनसे दुनिया भरी है। और ध्यान रखना ! गैर पढ़े-लिखे गंवार तो अपने आप कम होते जा रहे हैं, क्योंकि सब शिक्षित होते जा रहे है। अब गैर पढ़े-लिखे गंवार खोजना जरा मुश्किल मामला है। अब तो पढ़े-लिखे गंवार ही मिलेंगे, और एक खोजो तो हजार मिलेंगे।

महावीर कहते हैं, 'मूर्खों के संसर्ग से दूर रहना'।

जिनको कुछ पता नहीं है, और जिनको यह वहम है कि पता है, वह तुम्हें नुकसान पहुंचा सकते हैं।

'एकाग्र चित्त से सत्-शास्त्रों का अभ्यास करना'।

शास्त्र, वह भी सत् हो। सत् का अर्थ इतना है कि शास्त्र, जिसका रस पांडित्य में न हो, सत्य में हो। जिसका रस विवाद में न हो, साधना में हो। शास्त्र जो आपको कोई सिद्धान्त, कोई सम्प्रदाय देने में उत्सुक न हो, जीवन रूपान्तरित करने का विज्ञान देने में उत्सुक हो। ऐसे शास्त्र हैं, जिनसे आपको सिद्धान्त मिल सकते हैं और ऐसे शास्त्र हैं, जिनसे आपको जीवन रूपांतरण की विधि मिल सकती है। सत्-शास्त्र वही है, जिससे आपको विधि मिलती है। असत्-शास्त्र वह है, जिससे आपको बकवास मिलती है। लोग बकवास सीख कर बैठ जाते हैं और बकवास जब बिलकुल मजबूत हो जाती है, तो वे भूल ही जाते हैं कि वे क्या कर रहे हैं। वह जो खोपड़ी में भर लिया है, उससे कोई आत्मा का रूपांतरण नहीं होने वाला है।

महावीर का जोर है, 'सतशास्त्रों का अभ्यास करना—एकाग्रचित से।' क्यों ?

क्योंकि अगर कोई आदमी सत्शास्त्र को पढ़ते वक्त, पच्चीस सत्-शास्त्रों को सोचता रहे, तो उसका चित एकाग्र नहीं होगा। जब पतंजलि को पढ़ना, तो सारे जगत को भूल जाना। पतंजलि को ही पढ़ना। जब महावीर को पढ़ना, तो महावीर को ही पढ़ना। फिर सारे जगत को, पतंजलि को बिलकुल भूल जाना। लेकिन हमारी तकलीफ यही है कि जो हमने जान लिया है, वह हमेशा बीच में खड़ा हो जाता है। चित्त कभी एकाग्र नहीं हो पाता। शास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं जुड़ता अगर चित्त पूरी तरह एकाग्र नहीं हो।

सारे जगत को भूल जाना। फिर यही समझना कि पतंजलि तो पतंजलि, बुद्ध तो बुद्ध और महावीर तो महावीर — फिर कुछ भी नहीं है और—और डूब ही पूरे जाना। डुबकी से ही यह सम्भव होगा—जीवन बदलेगा।

'गम्भीर अर्थ का चिन्तन करना।'

हम अर्थों का चिन्तन नहीं करते। हम केवल अर्थों के साथ विवाद करते हैं। अगर आपने मुझे सुना है, तो आप इसकी फिक्र नहीं करते कि जो मैंने कहा है, उसके क्या गम्भीर से गम्भीर अर्थ हो सकते हैं। आप तो अभी समझ गए। गम्भीर अर्थ का कोई सवाल ही नहीं है। यह अर्थ ठीक है या गलत, इसको आप विचार करते हैं ? शब्द के सम्बन्ध में ठीक और गलत

का विचार करने से कोई हल होने वाला नहीं है।···क्या कहा है ? उसमें कितने और गम्भीर उतरा जा सकता है ? कितने गहरे जाया जा सकता है ?

महावीर जैसे व्यक्तियों की वाणी में एक पर्त नहीं होती, उसमें तो हजार पर्तें होती हैं। इसलिए हमने पाठ पर बहुत जोर दिया है। हम यह नहीं कहते कि पढ़ लेना और किताब रख देना। हम कहते हैं कि फिर-फिर पढ़ना। फिर पढ़ने का क्या मतलब है ? फिर-फिर पढ़ने का मतलब है—कल मैंने एक अर्थ देखा था, आज फिर से पढ़ूंगा, फिर खोजूंगा कि क्या और भी कोई अर्थ हो सकता है, और भी कोई गहरा अर्थ हो सकता है ? **और महावीर जैसे लोगों की वाणी में जीवन भर अर्थ निकलते आएंगे।** आप जितने गहरे होते जाएंगे, उतने गहरे अर्थ आपको मिलते जाएगे। **जिस दिन आपको अपने भीतर आखिरी गहराई मिलेगी, उस दिन महावीर का आखिरी अर्थ आपको पता चलेगा।** इसलिए भाषा में अर्थ मत खोजना। अपने भीतर की गहराई में—एकाग्र ध्यान की गहराई में अर्थ को खोजना।

'चित में धृति रूप अटल शान्ति और धैर्य रखना।'

जल्दी मत करना, क्योंकि यात्रा है लम्बी। इसमें ऐसा मत करना कि आज पढ़ लिया और बात खतम हो गयी, कि आज सुन लिया और सब हो गया। यह यात्रा लम्बी है। अनंत है यात्रा। तो बहुत धैर्य पूर्वक गति करना। प्रतीक्षा रखना। शान्ति रखना। 'यही निश्रेयस का मार्ग है।'

मोक्ष का मार्ग यही है। छोड़ना जो गलत है—खोजना जो सही है। और धैर्य रखना अनन्त—प्रतीक्षा रखना अनन्त। साधना करना, पर अत्यंत धैर्य से—अत्यन्त शान्ति से।

यह मत सोचना कि अभी मिल जाएगा सब-कुछ। अभी भी मिल सकता है, लेकिन अभी केवल उन्हें मिल सकता है, **जो अनन्त तक प्रतीक्षा करने को तैयार हैं। उन्हें अभी इसी क्षण मिल सकता है,** क्योंकि उतने धैर्य की क्षमता अगर हो कि अनन्त काल तक रुका रहूंगा, तो अभी भी मिल सकता है। वही धैर्य मिलने का कारण बन जाएगा, लेकिन हम जल्दी में होते हैं।

मेरे पास लोग आते हैं और कहते हैं कि दो दिन हो गए ध्यान करते, अभी तक कुछ दर्शन हुआ नहीं।

इनक्योरेब्रल ! इनका कोई इलाज भी करना मुश्किल है। दो दिन काफी समय हो गया।

अगर बहुत उन्हें समझाओ-बुझाओ तो वे चार दिन कर लेंगे। कितने जन्मों की बीमारी है ? कितना कचरा है इकट्ठा ?

अभी म्युनिसिपल कमेटी के कर्मचारी हड़ताल पर चले गए थे, तो दो-चार दिन में कितना कचरा इकट्ठा हो गया था ? और आप कितने दिन से हड़ताल पर हैं ? आपको पता है ?

थोड़ा इसका ध्यान करें कि कितने दिन से आप हड़ताल पर हैं। आत्मा कचरा ही कचरा हो गयी है।

थोड़ा-धैर्य ! थोड़ी-शान्ति ! जो भी गलत को छोड़ने को तैयार है और ठीक को पकड़ने के लिए साहस रखता है—धैर्य और श्रम है जिसके पास और प्रतीक्षा भी कर सकता है, उसकी प्रार्थना एक दिन निश्चित ही पूरी हो जाएगी।

● संकलन एवं संपादन : *स्वामी चैतन्य भारती*

भगवान रजनीश के प्रति

हे प्रभु तेरी करुणा अपार। हे प्रभु तेरी करुणा अपार ॥

कहना चाहूं, कह न सकूं मैं,
रोना चाहूं रो न सकूं मैं,
तेरी करुणा ऐसी अपार। हे प्रभु तेरी ०।

जीवन में दुख ही दुख घेरे,
था जब कोई न मेरे नेरे,
तेरी किरपा बरसी अपार। हे प्रभु तेरी ०।

जीना मुश्किल, मरना मुश्किल,
था जब साहिल मिलना मुश्किल,
तेरी किरपा बरसी अपार। हे प्रभु तेरी ०।

★ *स्वामी अगेह भारती*

मैं धर्म और रजनीश

(*स्वामी निर्मल आनन्द भारती*)

कृष्ण के साथ मैं को पहले छोड़ना पड़ता है, इसलिए आप कृष्ण के सिर्फ भक्त हो सकते हैं। बुद्ध और महावीर के साथ आप 'मैं' को थोड़ी दूर तक लिए चल सकते हैं इसलिए आप बुद्ध के भिक्षु और महावीर के श्रमणक हो सकते हैं लेकिन रजनीश के साथ मैं को छोड़ने या न छोड़ने की ऐसी कोई शर्त नहीं है। असल में उनके साथ आप सिर्फ परमात्मा ही हो सकते हैं।

जीसस और तलवार उठायें असम्भव है। मुहम्मद और सूली पर चढ़ें यह तो सोचा भी नहीं जा सकता है लेकिन रजनीश के साथ सब सम्भव है। इसलिए रजनीश के साथ आपको सब करना पड़ सकता है। धर्म-युद्ध भी लड़ना पड़ सकता है, आपको सलीब पर भी चढ़ाया जा सकता है। कबीर के साथ चलने में आपको घर में आग लगानी पड़ेगी जैसा कि उन्होंने कहा है :

'कबिरा खड़ा बाजार में लिये लुकाठी हाथ।
जो घर बारै आपनो चले हमारे साथ'॥

लेकिन रजनीश के साथ आपको घर में लगी आग भी बुझाना पड़ेगी।

मुहम्मद के साथ चलने में आपको जन्नत मिलेगी, जीसस के साथ आप स्वर्ग के अधिकारी होंगे, महावीर के साथ आपको मोक्ष मिलेगा, बुद्ध के साथ आपको निर्वाण मिलेगा लेकिन रजनीश के साथ आपको हर क्षण नव जीवन मिलेगा।

कृष्ण पूर्ण अवतार हैं, बुद्ध तथागत हैं, महावीर तीर्थंकर हैं, मुहम्मद पैगम्बर हैं, जीसस ईश्वर पुत्र हैं, लाओत्से ताओ हैं, कबीर सन्त हैं रजनीश इन सबके जोड़ के बाद भी अनन्त हैं।

प्रश्नोत्तर वार्ता

साहित्य : समय की धार पर

प्रश्न : आज की इस अराजकतापूर्ण व अव्यवस्थापूर्ण स्थिति में साहित्यकार का क्या दायित्व है ?

भगवान श्री : पहली बात तो यह कि साहित्य का बहुत अनिवार्य सम्बन्ध सेक्स से है। सच बात तो यह है कि साहित्य सेक्स का ही एक रूपांतरण है। असल में जो भी सृजनात्मक है वह मूल में कहीं न कहीं सेक्स से सम्बन्धित है। क्योंकि सृजन का मूल वह है। अब इस सम्बन्ध में बड़े मजे की बात है कि स्त्रियों ने कुछ भी सृजन नहीं किया। साहित्य में या चित्र या मूर्ति या विज्ञान या दर्शन-धर्म कुछ भी सृजन नहीं किया। और उसका कुल कारण इतना है कि बच्चों के पैदा करने से उनकी सृजनात्मक तृप्ति हो जाती है। पुरुष बच्चे को पैदा करने में बिलकुल ही सांयोगिक है और ऐक्सीडेण्टल है। उसके सृजन की वृत्ति तृप्त नहीं हो पाती। इसलिए पुरुष ने सारी सृजनात्मक दिशाओं में काम किया। चाहे साहित्य हो, चाहे कला हो, चाहे विज्ञान हो और चाहे धर्म हो, तो मनोविज्ञान के हिसाब से तो पुरुष इन्फीरियर अनुभव करता है स्त्री से।

उसमें हीनता की ग्रंथि है। क्योंकि स्त्री तो सृजन कर लेती है बच्चों का। और वह तो खड़ा ही देखता रह जाता है, उसका उसमें कोई विशेष भाग नहीं है। वह इतना आनुषंगिक है कि वह कहीं उसका जिम्मेवार नहीं है। इसलिए पुरुष के मन में निरंतर एक हीनता की ग्रंथि है। और इसकी वजह से पुरुष ने सारी सभ्यता विकसित की और स्त्री को दिखाया कि तुम्हीं सृजन नहीं करतीं, सृजन हम भी करते हैं। स्त्री ने कोई सृजन नहीं किया, उसके सृजन की कोई जरूरत नहीं। उसका काम ही उसके सृजन का मूल बन गया।

तो पुरुष में जो काम की ऊर्जा है, वही उसकी सृजनात्मक वृत्तियों में प्रवेश कर गई। और साहित्य जो है उसके सृजन का बड़ा से बड़ा आयाम है। तो यह आयाम मौलिक रूप से सेक्सुअल है। इसलिए सदा का साहित्य मौलिक रूप से यौन से आबद्ध है। वह चाहे कालिदास हों, चाहे भवभूति हों और चाहे कोई भी हों। लेकिन फर्क जो पड़ा है वह यह कि पुराना जो साहित्य है वह आभिजात्य है। क्योंकि पुराना जो साहित्य है वह आभिजात्य वर्ग के निकट विकसित हुआ— सम्राटों के दरबार में या पुरोहितों के मंदिरों में। तो वह आभिजात्य वर्ग के निकट चूंकि विकसित हुआ इसलिए आभिजात्य वर्ग की जो औपचारिकता है वह सब उसमें है। इसलिए वह लुका-छिपा है। उसको कहना चाहिए कि वह प्रत्यक्ष कहीं भी नहीं है। परोक्ष है। अगर काम की भी बात कर रहे हैं कालिदास तो वह भी परोक्ष। इसलिए वह नग्न नहीं मालूम पड़ता। बात वही है, इशारे वही हैं, संकेत वही हैं लेकिन कभी बसन्त से हैं, और कभी फूल पर घूमते हुए भंवरे से हैं, सीधे नहीं हैं। सीधे नहीं होने से वे दिखाई नहीं पड़ते। इस सदी में आते-आते आभिजात्य वर्ग तो नष्ट हो गया।

पहली दफा लोक-साहित्य पैदा हुआ, जो सबका है। स्वभावतः वह उतना औपचारिक नहीं हो सकता। गांव का ग्रामीण या मजदूर, सड़क का आदमी, उसका भी अब उसमें हिस्सा है। तो जैसी गाली वह सड़क पर बकता है वैसी गाली कभी किसी राजा के दरबार में नहीं बक सकता। राजा के दरबार में जो साहित्य पैदा हुआ था उसमें गाली नहीं थी। हो नहीं सकती थी। लेकिन सड़क पर चलने वाले का साहित्य जो विकसित होगा, जो लोक-साहित्य है, उसमें गाली आयेगी जो सीधी और साफ होगी। तो मेरी दृष्टि में यौन पहली बार प्रत्यक्ष प्रकट हो रहा है, अप्रत्यक्ष तो वह सदा प्रगट था। और इसे मैं बुरा भी नहीं मानता। बल्कि मेरी अपनी समझ यह है कि जब परोक्ष होता है यौन तब अश्लील हो जाता है।

अश्लील का मतलब ही यह है कि हम इशारे कर रहे हैं, इंगित कर रहे हैं। कह भी रहे हैं और कहना भी नहीं चाहते, प्रकट भी नहीं करना चाहते कि हम कह रहे हैं। अश्लीलता जो है वह किसी चीज को झुठलाने और मुखौटे पहनाने में है। चीजें जैसी हैं, वे अपने आप में सीधी और साफ हैं। अश्लील नहीं हैं। जैसे उदाहरण के लिए एक नग्न खड़ी आदिवासी स्त्री अश्लील नहीं है। लेकिन चुस्त कपड़े पहनकर अपने सारे शरीर के अंगों को सब भांति प्रकट करती एक आधुनिक स्त्री अश्लील है। क्योंकि उसके इशारे

हैं, इंगित हैं। और इंगित ऐसे हैं कि अगर आप उसे कहें कि इंगित यह किया जा रहा है तो वह मानेगी नहीं। वह प्रत्यक्ष नहीं हैं, परोक्ष हैं। परोक्ष काम जो हैं वह बहुत गहरे में मानसिक हो जाता है। प्रत्यक्ष काम जो है वह बहुत सीधा, साफ और सहज है। स्वाभाविक है, तो आधुनिक साहित्य के सभी आयामों में चीजें जैसी थीं, वैसी प्रगट होनी शुरू हो गईं। तो इसका एक कारण तो यह है कि दरबारी न रहकर साहित्य लोक साहित्य बना। और जब विराट जन-समूह साहित्य में रस लेगा तो उस विराट जन-समूह की जो मनोदशा है, जो स्थिति है सोचने की, समझने की, पहचानने की वह सब साहित्य में प्रवेश कर जायगी। अब इसीलिए छन्द टूटा। क्योंकि छन्द जो था वह सुनियोजित साहित्य में हो सकता था। सुशिक्षित साहित्य में हो सकता था। क्योंकि उसकी लम्बी प्रक्रिया है, प्रशिक्षण है उसका। तो राजाओं के लड़के उस प्रशिक्षण से गुजरते, कुछ धनपतियों के लड़के गुजरते। वह राग, लय और छन्द और जमाने भर का हिसाब रखते, लेकिन एक गांव का आदमी जो गाता है तो न राग है, न लय है, न छन्द है। वहां गीत ही महत्वपूर्ण है, बाकी सब गौण है। वह गाना चाहता है, यही महत्वपूर्ण है। बाकी सब उसके पीछे है, आया तो आया, नहीं आया तो नहीं आया। जैसे ही लोक-साहित्य होगा वैसे ही वह, जिसको कहना चाहिए, अप्रशिक्षित के योग्य होना चाहिए। वह सड़क और खेत और दूकान और बाजार के करीब होगा। उसमें पसीने की बास आयेगी। उसमें इत्र की बास नहीं हो सकती। इत्र की बास दरबार में हो सकती है। और जिनको इत्र की बास की आदत हो गई है, उनके लिए पसीने की बास बड़ी अश्लील है। यद्यपि पसीने की बास ही सचाई है। वह आदमी के शरीर में है। उसमें वह बिलकुल स्वाभाविक है। अब उसको फ्रेंच परफ्यूम से दबाना सबके लिए संभव नहीं है। जिनके लिए संभव था वो दबाए रक्खे और उन्होंने भुला ही दिया कि आदमी में कभी भी कोई बास भी होती है पसीने की। होती ही नहीं। लेकिन आदमी में बास होती है पसीने की। और अगर कोई पसीने को अश्लील कहता हो तो फिर वह प्रकृति को अश्लील कहता है।

तो एक कारण जो मुझे दिखाई पड़ता है वह, पुराना जितना साहित्य है वह आभिजात्य था, बुर्जुवा था। और दूसरा वह किसी न किसी अर्थों में धर्म के आस-पास विकसित हुआ। धर्म की खूबी है कि धर्म 'मिथ' में जीता है। वह सीधी बातें नहीं करता। वह घूम-घूम के तिरछी बातें करता है। उसे

कुछ कहना भी हो तो उसको प्रतीक में कहता है। तथ्यों पर उसकी कम पकड़ है। 'फैक्ट्स' से उसका संबंध कम है, फिक्शन्स से उसका ज्यादा संबंध है। तो धर्म ने जीवन के प्रत्येक तथ्य को बहुत मीठी-मीठी कहानियों में गढ़ने की कोशिश की, तो जितना पुराना साहित्य है, वह चूंकि धर्म के आस-पास ही विकसित हुआ था, वह प्रतीकात्मक है, सिम्बॉलिक है। आधुनिक साहित्य धर्म के नहीं, विज्ञान के आस-पास विकसित हो रहा है। आधुनिक युग की चेतना का जो मूल केन्द्र है वह धर्म से हटकर विज्ञान हो गया। विज्ञान 'फिक्शन' के पक्ष में नहीं, 'फैक्ट' के पक्ष में है। वह यह कहता है कि अगर तुम्हें यह कहना है कि जननेन्द्रिय है तो इसको ऐसा ही कहो। इसको किसी प्रतीक का रूप मत बनाओ। इसे झुठलाते क्यों हो। जो जैसा है, उसे वैसा रखो। तो चूंकि नया साहित्य का केन्द्र, जीवन का केन्द्र बदल गया, धर्म की जगह विज्ञान हो गया इसलिए नया साहित्य सीधा और साफ है। वह अगर कहना चाहता है एक स्त्री से कि उसे उसका शरीर नग्न अच्छा लगता है तो उसको ऐसा ही कहेगा। वह उसे और परी-कथाओं में नहीं दबाना चाहेगा। परी-कथाओं के बाहर हुआ है। ऐसे यह मेच्योरिटी का लक्षण है। इससे प्रौढ़ता प्रकट होती है। तो एक तो आभिजात्य नहीं रहा वह, दूसरा धर्म से उसका सम्बन्ध टूटा। विज्ञान से सम्बन्ध जुड़ा और लोक से सम्बन्ध जुड़ा। इन दो घटनाओं ने उसे सीधा और साफ कर दिया।

इसलिए वह जो पुरानी समझ व पकड़ का आदमी है उसको लगता है कि चीजें नग्न हो गईं। हालांकि सदा से चीजें नग्न हैं। आदमी सदा से नंगा है। लेकिन बहुत हमने उसको वस्त्र पहनाया और ऐसी हालत पैदा कर दी कि शायद ही वस्त्र पहने आदमी को कभी खयाल आता है कि वह नंगा है। इतने बचपन से हम वस्त्र पहनाते हैं और इतना पहनाए चले जाते हैं कि करीब-करीब हमारी चेतना में भी यह तथ्य नहीं रह जाता कि हम नंगे हैं। यह हमारे किसी अचेतन में प्रवेश कर जाता है। इसलिए नंगा आदमी हमें एकदम से हैरानी में डाल देता है हालांकि वही सच्चा आदमी है। चीजें किस तरह झूठ होती चली जाती हैं और उनको झूठ करने की कितनी लम्बी प्रक्रिया है कि आदमी का सहज तथ्य, वह कितना भी कपड़े पहने पर भीतर नंगा ही है, पर नहीं, चेतना से यह तथ्य मिट गया है। या अगर आपको अचानक कोई खयाल दिला दे कि आप कपड़े के भीतर नंगे हैं तो आपको भी चोट करता है कि क्या कह रहे हैं। क्या झूठ बोल रहे हैं। अभी मैं एक बात कह रहा था,

कोई मुझसे मिलने आया था, मैं उससे कह रहा था कि अगर सड़क पर एक स्त्री और पुरुष तुम्हें मिल जायं और तुम्हें वह पुरुष परिचय दे कि यह मेरी पत्नी हैं तो तुम्हारे मन में कभी यह खयाल नहीं उठता कि इन दोनों के बीच यौन का कोई सम्बन्ध होगा, जबकि पत्नी का मतलब ही यह होता है। लेकिन एक युवक मिल जाय और एक स्त्री हो और वह तुम्हें परिचय दे कि यह स्त्री मेरी दोस्त है तो तुम्हें फौरन खयाल आता है कि इनके बीच यौन का कोई सम्बन्ध है। यह कितना मजेदार मामला है। यानी पत्नी जब वह कह रहा है तो उसका मतलब ही यह है। यह इतना साफ मतलब है लेकिन इसका खयाल ही नहीं आता। तो पति-पत्नी के बीच यौन का कोई सम्बन्ध होता है, इसका खयाल ही नहीं आता। अगर आप अपनी पत्नी के साथ अपने कमरे में सो रहे हैं तो किसी को खयाल नहीं आता कि कोई गड़बड़ है। लेकिन पत्नी के अलावा कोई हो कमरे में तो गड़बड़ है। यानी मैं कई दफे हैरान हो जाता हूं देखकर कि आदमी फिक्शन कैसे खड़े कर सकता है। पति-पत्नी का फिक्शन खड़ा किया हुआ है।

नये मानस ने विज्ञान के साथ जो खड़े होने की तैयारी दिखाई है, वह तैयारी जहां तक प्रकृति का सम्बन्ध है वहां तक तो वह कष्ट नहीं देखता क्योंकि हमने वहां वस्त्र ओढ़ाये भी नहीं। लेकिन जब मनुष्य का सवाल आता है तो बड़ी मुश्किल हो जाती है। क्योंकि वहां हमने बड़ी ढांक-पोंछ की है। करीब-करीब हमने ऐसा किया है कि जो है उसको हमने चेतना के बाहर कर दिया है। और जो नहीं है, उसे हमने चेतना में विराजमान कर लिया है। इसलिए आज जो कोई भी जो है उसकी तरफ इशारा करेगा तो वह आदमी उपद्रवी, खतरनाक, अराजक, नग्न और अश्लील सब दिखाई पड़ेगा। मेरी अपनी समझ यह है कि यह बेचारा आदमी सिर्फ तथ्यों को प्रकट कर रहा है। और आगे आने वाली दुनिया में यही आदमी श्लील सिद्ध होगा, और इसके पहले कि पूरी संस्कृति अश्लील सिद्ध होगी। क्योंकि जैसे-जैसे यह साफ हो जायगा कि आदमी नग्न है, और जैसे-जैसे यह साफहो जायगा कि अ, अ है ब, ब है, वैसे ही हमारे बच्चों को यह समझना कठिन हो जायगा कि चीजों को इतना घुमा-फिरा कर कहने की क्या जरूरत थी। यह घुमा-फिराकर कहने की जरूरत बहुत भीतर किसी 'गिल्ट' और अपराध की प्रवृत्ति की सूचना देती है। क्योंकि हम सीधे नहीं कह सकते हैं। उसका मतलब यह होता है कि भीतर बहुत अपराधी हैं। तो मैं तो कहूंगा ये अच्छे लक्षण हैं। और जिनको

इससे चोट पहुंचती है मैं तो कहूंगा, वे भी भीतर गहरे में यौन केन्द्रित हैं, रुग्ण हैं, १०० में से २० कविताएं अगर आपने सेक्स पर छापीं तो यह अनुपात बहुत नहीं है। क्योंकि अगर हम आदमी का जीवन देखें तो उसमें ९० प्रतिशत सेक्स से संबंधित है। अगर ९० प्रतिशत तक कविताएं सेक्स से सम्बन्धित हों तो भी अतिशयोक्ति नहीं है। लेकिन हमने कभी उसे स्वीकार नहीं किया था। अगर चांद से कोई आदमी उतरे या मंगल से या किसी उपग्रह से और हमारे क्लब में, साहित्य-संस्था, हमारे कालेज में, हमारी युनिवर्सिटी में, हमारे सज्जनों से मिल के चला जाय तो उसे कभी खयाल नहीं आएगा कि यहां कोई सेक्स जैसी चीज है। क्योंकि सेक्स को हमने सब अंधेरे कोनों में ढंक दिया है। हमें ही पता नहीं है उसका। हमने अपने मन में भी अंधेरे कोने में डाल दिया है उसको। उसको हमने इन्कार ही कर दिया था। उसको हमने काट ही दिया है। इसलिए जहां से भी वह वापस लौट रहा है वहीं से हमें घबराहट होती है। वह घबराहट हमारे भीतर की मनोदशा के कारण है।

और दूसरी बात आप पूछते हैं साहित्यकार के दायित्व की। मेरी अपनी समझ यह है कि यह सवाल तभी उठता है जब समाज संक्रमण के काल में होता है, अन्यथा नहीं उठता। संक्रमण की स्थिति में साहित्यकार का दायित्व सदा भविष्य है, अतीत कभी भी नहीं। वह जो मर रहा है, वह जो जा रहा है, उसे जाने देने, उसके मरने में सहायता पहुंचाना और वह जो आ रहा है, जन्म ले रहा है उसके जन्म लेने में सहायता पहुंचाना साहित्यकार का दायित्व है। लेकिन आमतौर से जो प्रतिष्ठित साहित्यकार है उसको चूंकि पुराने के कारण प्रतिष्ठा मिली थी, पुराने ने उसे पद्मश्री और भारत रत्न दिए थे, पुराने ने ही तगमे उसे पहनाये थे — वह पुराने को बचाने की कोशिश करता है। क्योंकि उसी से वह निर्मित हुआ है। उसी ने उसको सम्मान दिया है। वह जो पुराना सम्मान देता है, वह जो पुराना अहंकार की तृप्ति करता है, हम उसको बचाने में लग जाते हैं। और जिनको हम अराजक कह रहे हैं वह भविष्य के आने का मार्ग है। क्योंकि कोई भी समाज बिना अराजक हुए बदल नहीं सकता। बदलाहट का मतलब अराजकता है। अराजकता है संक्रमण की घड़ी। अराजकता कोई स्थायी व्यवस्था नहीं है, हो भी नहीं सकती। कोई चाहे भी तो अराजक स्थिति कभी स्थायी व्यवस्था नहीं बन सकती। अराजक व्यवस्था हमेशा दो व्यवस्थाओं के बीच का समय है। जब एक व्यवस्था मरती है और अपने को बचाने की पूरी जद्दो-जहद करती है और

एक व्यवस्था पैदा होती है और अपने को जमाने की, अपने पैरों पर खड़े होने के लिए संघर्ष करती है तब बीच में जो एक उपद्रव का क्षण हो जाता है जब कि तय करना मुश्किल होता है कि क्या ठीक है, क्या गलत है। क्योंकि जो कल तक ठीक था वह मर रहा है और जो कल तक गलत था वह जन्म ले रहा है, जिसके जीवन की संभावना है वह गलत था कल तक, और जो कल तक सदा स्वीकृत था वह मर रहा है। तो इन दोनों के बीच में अराजकता पैदा हुई। एक मूल्य जो सदा से स्वीकार था, वह जा रहा है। जो कभी स्वीकार नहीं था, वह आ रहा है। और हमारा मन चूंकि पुराने से बंधता है, वह उसी की पैदाइश है, इसलिए वह जो जा रहा है उसको बचाना चाहता है। लेकिन यह भी हमें दिखाई पड़ता है कि उसके बचने का कोई उपाय नहीं है, उसकी सब जड़ें कट गई हैं। उसके लिए जमीन पर कोई जगह नहीं रह गई है। इससे बेचैनी पैदा होती है। और यह भी दिखाई पड़ता है कि वह जो हम नहीं चाहते, जो हमारा मन कहता है कि ठीक नहीं है, वह आ रहा है, उसमें अंकुर भी फूट रहे हैं, उसकी जड़ें भी फैल गई हैं। तो या तो पुराना समाप्त हो जाय तो अराजकता मिट जाती है, या नया पैदा होने से रुक जाय, गर्भपात हो जाय उसका, तो अराजकता रुक जाती है। इन दोनों के बीच में मैं मानता हूं कि साहित्यकार का दायित्व और कर्तव्य जो है वह सदा नये के लिए है, क्योंकि जीवन नये का होने वाला है। वैसे ही है जैसे एक घर में एक बूढ़ा आदमी मर रहा है और एक बच्चा पैदा होने वाला है। तो शायद ही उस घर के लोग पैदा होने वाले बच्चे की फिक्र में उतने हों जितने कि उस मरते बूढ़े की सेवा में लगे होंगे। स्वभावतः है वैसा। क्योंकि वह पिता है, दादा है, उसने पाला है, बड़ा किया है, हम उससे ही आए हैं। हालाँकि जीवन उसके साथ नहीं है, वह जा रहा है। और जो आ रहा है वह शायद लापरवाही में होगा पैदा, क्योंकि उस तरफ किसी का ध्यान नहीं होगा। उसकी कौन फिक्र करेगा जो आ रहा है। क्योंकि वह जो गया है उससे हमारे सम्बन्ध हैं, और जो आया है, उससे हमारा कोई सम्बन्ध ही नहीं है। वह है एक अपरिचित, अजनबी, लेकिन संबंध उससे ही होने को हैं। और जो गया है वह जा चुका। और उसका जाना भी जरूरी था।

तो यह स्थिति समाज एकदम से पूरा ग्रहण नहीं कर पाता। लेकिन साहित्यकार को चूंकि वह समाज के आगे चलने वाला हिस्सा है, वह टुकड़ी है जो भविष्य की तरफ सर्वाधिक उन्मुख और समझपूर्वक होती है, उसे बहुत

फिक्र दिखानी चाहिए। उसे फिक्र दिखानी चाहिए कि नया जो जन्मता है, उसकी चिन्ता ली जा सके। जो मर रहा है उसे मानपूर्वक बिदा किया जाय, उचित है। लेकिन जाने वाला आने वाले के लिए मार्ग में बाधा न बन जाय, लापरवाही न हो जाय। यह उसकी समझ चाहिए। और यह अराजक शब्द जो है, वह भी जाती हुई पीढ़ी देती है। यह शब्द सम्मानजनक नहीं है। यह मरता हुआ बूढ़ा, वह जो बच्चा पैदा हो रहा है और मां जो रो रही है, चिल्ला रही है, उसको कह रहा है कि अराजकता बन्द करो। शांति रखो। शोर गुल न मचाओ। मैं बीमार हूं, देखते नहीं। यह जो प्रसव की पीड़ा है उसे वह अराजक कह रहा है, ठीक भी है, उसके लिए अराजक है वह। यह अराजक शब्द मैं नहीं देना पसन्द करूंगा। अराजक पुरानी पीढ़ी कह रही है। अराजक कहकर वह यह कह रही है कि यह चीज मानने जैसी नहीं है, यह अव्यवस्था है। क्योंकि सभी व्यवस्थायें जब टूटती हैं तो उसे लगता है कि अब जो होगा अव्यवस्था होगी। हालांकि उन्हें पता नहीं है कि एक व्यवस्था के टूटने से अव्यवस्था नहीं होती, सिर्फ दूसरी व्यवस्था होती है। आज तक कभी दुनिया में अव्यवस्था नहीं रही। न कभी होगी। लेकिन हर पुरानी टूटती व्यवस्था को ऐसा अनुभव होता है कि सब गया, क्यों ? क्योंकि हर व्यवस्था अपने को व्यवस्था ही समझ लेती है। ऐसा नहीं कि वह एक व्यवस्था है। न, वही व्यवस्था है। कोई दूसरी व्यवस्था का तो विकल्प हो नहीं। अगर विकल्प हो तो दूसरी व्यवस्था हो सकती है। लेकिन हर व्यवस्था अपने को मान लेती है कि वही एकमात्र व्यवस्था है। वही एकमात्र सभ्यता है। वही एकमात्र संस्कृति है। वही एकमात्र अनुशासन है। अगर वह नहीं है तो जो होगा वह अनुशासनहीनता होगी। जो होगा वह अव्यवस्था होगी। जो होगा, वह अराजकता होगी। यह गलत बात है। एक व्यवस्था मरती है, अव्यवस्था नहीं आती। दूसरी व्यवस्था आती है। एक व्यवस्था को आने में मरती व्यवस्था जितनी देर बाधा डालती है, उतनी देर अव्यवस्था रहती है।

तो मेरा मानना यह है कि पुरानी व्यवस्था को हम जितनी जल्दी दफना दें उतनी जल्दी अव्यवस्था समाप्त हो जायगी। और यह असंभव है कि पुरानी व्यवस्था रह सके। नई आयेगी। असल में जिसके आने की संभावनाएं सारी परिस्थितियों में इकट्ठी हो गई हों, उसी का नाम नया है। और जिसके जाने की सारी परिस्थिति पुरानी व्यवस्था ने ही पैदा कर दी हो, उसी का नाम पुराना है। असल में जाते हुए का नाम पुराना है और आते हुए का नाम

नया है। तो पुरानी व्यवस्था बच तो सकती नहीं। लेकिन वह अपनी चेष्टा कर सकती है बचने की। और वह जितनी चेष्टा करती है उतनी देर नई के पैदा होने में बाधा डालती है। अब यह बहुत मजेदार बात है कि अगर बूढ़ा चाहे तो नये बच्चे को मार डाल सकता है। हालांकि बूढ़ा मरेगा। नये बच्चे को मारने से बूढ़ा नहीं बच सकता। बूढ़े को मरना ही पड़ेगा। नये बच्चे को आना ही पड़ेगा। लेकिन फिर भी नया बच्चा एक अर्थों में शक्तिशाली होता है कि भविष्य उसका है। लेकिन एक अर्थों में बहुत असहाय होता है कि वह पुराने के हाथ में होता है, अभी जो तकलीफ है हमारे समाज की वह यह है कि पुराने नये को बढ़ाने के लिए उत्सुक नहीं है। इंकार कर रहा है। और ऐसा हमारे मुल्क में बहुत ज्यादा है क्योंकि हमारे मुल्क में पुराने की उम्र बहुत हो गई है। असल में पुराने को खयाल ही मिट गया कि वह मरेगा। वह इतना पुराना है कि ऐसा लगता है वह सदा से सनातन है। उसको खयाल ऐसा है कि वह सनातन है, अनादि है। यानी ऐसा कोई मौका ही नहीं आया हमारे अतीत के इतिहास में कि वह मरा हुआ मालूम पड़ा हो, और कुछ ऐसी स्थिति बन गई कि जो भी फर्क आये वे इतने छोटे-मोटे हैं और इतने लम्बे अर्से में आये कि उनसे कभी कोई ब्रेक और गैप नहीं पड़ा। कोई ऐसा अन्तराल नहीं पड़ा कि एक बारगी ऐसा लगा हो कि पुराना मर रहा है और नया पैदा हो रहा है। सदा ऐसा लगा है कि पुराना अपने से कम पुराने के हाथ में सौंप गया। नये के हाथ में कभी नहीं। ८० साल का बाप ६० साल के बेटे के हाथ में सौंप गया। पुराना थोड़े कम पुराने के हाथ में सौंपता रहा। पहली दफे ऐसा हुआ कि ८० साल या १०० साल के बाप को १५ या १६ साल के लड़के के हाथ में सौंपने का सवाल है। यह फासला इतना बड़ा है कि उसकी हिम्मत नहीं पड़ रही है सौंपने की। और उसके कारण बड़े गहरे हैं और वे समझ में नहीं आते। जैसे कि मुझे एक कारण बहुत गहरा मालूम पड़ता है वह यह है कि कोई जीसस के मरने के १८०० वर्ष में जितना ज्ञान विकसित हुआ, उतना पिछले १५० वर्ष में विकसित हुआ। और जितना १५० वर्ष में हुआ उतना पिछले १५ वर्ष में हुआ। और जितना १५ वर्ष में हुआ उतना पिछले ५ वर्ष में हुआ है। और आगे की संभावना है कि उतना ढाई वर्ष में हो जायगा। तो १८०० वर्ष में जितना ज्ञान विकसित होता, उतना ५ वर्ष में हो रहा है। यह इतनी अनहोनी घटना है! क्योंकि १८०० वर्ष में मस्तिष्क को जो सुविधा मिलती थी — आहिस्ता-आहिस्ता,

क्योंकि एक पीढ़ी पर कभी ज्ञान ज्ञान के परिवर्तन का मौका ही नहीं आता था। १८०० वर्ष में कई पीढ़ियां बदल जाती थीं। और अन्तर इतना कम पड़ता था एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में कि वह ८० साल और ६० साल का फासला था। अब उसमें फासला ही क्या था ! लड़का भी बूढ़ा ही था जिसके हाथ में देना था। लेकिन अब इतना बड़ा अन्तर है कि ५ साल में १८०० साल का फासला हम तय कर रहे हैं। तो दो पीढ़ियों के बीच अंतराल बहुत बड़ा है।

दूसरी कठिनाई क्या हो गई कि पुरानी पीढ़ी हमेशा सौंप पाती थी सरलता से क्योंकि जिसे वह सौंपती थी वह सदा विनम्र था। वह शरणागत था। वह सदा चरणों में बैठा था। और उसके भी कारण थे। कारण यह था कि बूढ़ा आदमी नये आदमी से ज्यादा जानता था। क्योंकि ज्ञान अनुभव से मिलता है। अतः जितनी उम्र थी उतना ज्ञान था। तो उम्र और ज्ञान पर्याय वाची थे। कोई और उपाय नहीं था ज्ञान पाने का। तो बूढ़ा आदमी जबान आदमी से सदा गुरु गंभीर था। ज्यादा जानता था, जवान उसके खिलाफ नहीं हो सकता था। बोल ही नहीं सकता था, क्योंकि वह कम जानता था। ज्ञानी और अज्ञानी का फर्क था। अब हालतें उलटी हो गई हैं। ज्ञान इतनी तेजी से बढ़ रहा है कि पुरानी पीढ़ी ने जब ज्ञान लिया और फिर २० साल बाद जब उसका बेटा ज्ञान लेता है तो २० साल में ४ छलांगें लगा लेता है। ज्ञान अब बेटा बाप से ज्यादा जानता है, आगे जानता है। यानी पहले दफा ऐसी घटना घटी है कि नई उम्र के आदमी के पास ज्यादा ज्ञान है, पुरानी उम्र के आदमी के पास कम ज्ञान है। इसलिए नई पीढ़ी का आदमी विनम्र नहीं है। क्योंकि उसके लिए कोई कारण नहीं है। उसको आप विनम्र नहीं कर सकते क्योंकि वह आपसे ज्यादा जानता है। और अगर पीछे वह विनम्र था तो इसलिए ही था कि वह कम जानता था। और आपसे ही उसको सीखना था।

अब हालतें उलटी हो गईं, अब बहुत शीघ्र बाप को बेटे से सीखना पड़ेगा। क्योंकि बेटा २० साल बाप से ज्यादा लेटेस्ट—नई से नई खोजें जान रहा है। अगर बाप डाक्टर है और लड़का उसका डाक्टर होता है तो लड़का ज्यादा अथेन्टिक स्वभावतः क्योंकि करीब १ करोड़ पृष्ठ प्रति वर्ष मेडिकल ज्ञान विकसित हो रहा है। तो बाप जहां खड़ा था वहां बेटा खड़ा है और जहां बेटा खड़ा था वहां बाप। इसलिए पुरानी पीढ़ी को पहली दफा अपना बेटा दुश्मन जैसा मालूम पड़ा है। पहले ऐसा कभी नहीं मालूम पड़ा

था। पहली दफे उसे लग रहा है कि वह उम्र में ज्यादा, अनुभवी, बाप और नई पीढ़ी के सामने विनम्र हो, यह उसकी कठिनाई का कारण है। लेकिन नई पीढ़ी की भी मजबूरी है। क्योंकि विनम्र होने के कारण तो हट गए हैं। मगर विनम्रता की मांग जारी है। अब उसे कोई कारण नहीं दिखता कि क्यों झुके बूढ़े आदमी के सामने। कल तक वजह थी कि तुम ज्यादा जानते थे, अब तुम ज्यादा नहीं जानते। स्थिति बिलकुल उलटी हो गई, नाव के ऊपर पानी है।

लेकिन नाव पुराना आग्रह किये चली जा रही है कि हमको डुबाना मत, हम डूबते कभी नहीं, हम सदा ऊपर रहे। जबकि हालत उनकी उलटी है। नदी ऊपर है, नाव नीचे है इस वक्त अब डूबना उसका जरूरी हो गया है। और नाव जितनी जल्दी समझ ले, उतना अच्छा है। **उतना अच्छा क्योंकि नदी नहीं समझेगी**। नदी को समझने की कोई जरूरत नहीं। जो कठिनाई हो गई है वह सदा के लिए हो गई, आगे के लिए। कि बाप को प्रतिष्ठा के केंद्र से हटना पड़ेगा। और यह इतना बड़ा मामला है !! क्योंकि इससे संबंधित सारी और बहुत सी बातें आती हैं। गुरु केन्द्र पड़ता है बाप की वजह से, नेता केन्द्र पड़ता है। उन सब को हटना पड़ेगा। नेता की जगह अब नेता नहीं रह सकेगा। गुरु की जगह गुरु नहीं रह सकेगा। बाप की जगह बाप नहीं रह सकेगा : और अगर उनको बाप बने रहना हो, गुरु बने रहना हो, नेता बने रहना हो तो अब उन्हें अपने पुराने आग्रह और स्थान छोड़ देने पड़ेंगे। उसे जितनी जल्दी छोड़ दे, उतना ही अच्छा। उसी में समझदारी है।

इसकी वजह से अब साहित्यकार का क्या दायित्व होगा, वह दो खेमे में बंट जायगा। वह जो पुराने से प्रतिष्ठित हो गया है। उससे बहुत कम आशा है कि वह नये भविष्य के लिए कुछ कर सकेगा। और नया जो भविष्य के लिए लड़ रहा है उसको कम आशा रखनी चाहिए कि उसे पुराने से प्रतिष्ठा मिल सकेगी। अगर उसने पुराने से प्रतिष्ठा पाने की जरा भी कोशिश की, तो वह नहीं बचेगा। इसलिए मेरी समझ में निरंतर दिखाई पड़ता है कि जैसे ही कोई साहित्यकार थोड़ा सा प्रतिष्ठित होता है, उसमें से क्रान्ति का स्वर गया। क्योंकि जिनसे प्रतिष्ठता मिलती है वो प्रतिक्रियावादियों का वर्ग है। उसको राजधानी से कोई सम्मान पुरस्कार मिल जाय कि वह गया। इसलिए किसी भी साहित्यकार को मारना हो पुरानी पीढ़ी को तो उसको प्रतिष्ठा दे देनी चाहिए। और मेरी यह भी समझ है कि **नये साहित्यकार के**

दायित्व का एक हिस्सा यह भी है कि वह पुराने से प्रतिष्ठा मांगे ही नहीं। मांगेगा तो गया। इसलिए मैं मानता हूं कि सार्त्र ने ठीक किया जो नोबुल प्राइज नहीं लिया, इन्कार कर दिया। तो आज भी वह लड़कों के साथ सड़क पर खड़ा हो सकता है। बिलकुल ही ठीक किया। क्योंकि नोबुल प्राइज के बाद, नोबुल लारेट होने के बाद वह खड़ा नहीं हो सकता। क्योंकि किसी भी चीज के संदर्भ हैं।

एक आदमी को राष्ट्र कवि बना दो और फिर उससे लिखवा लो अकविता। या कहो कि वह नग्न तथ्यों की चर्चा करे अपनी कहानी में। वह नहीं कर सकता। वह फिर रामयण लिखने लगेगा। क्योंकि जिनसे उसे मिली है प्रतिष्ठा, उसका तो खयाल रखना पड़ेगा, नहीं तो प्रतिष्ठा गई। इसलिए मेरी अपनी समझ यह है कि नये साहित्यकार को प्रतिष्ठा का मोह छोड़ना चाहिए जो कि साहित्यकार में है। गहरा है। और उसके कारण हैं। असल में जो कोई कुछ सृजन करता है, वह चाहता है कि उसे प्रतिष्ठा प्राप्त हो। और इसलिए बड़ी जद्दो-जहद है। इसलिए मैं देख रहा हूं इधर कि कोई भी साहित्कार कहीं भी कुछ प्रतिष्ठित हुआ कि वह गया एकदम। जब तक अप्रतिष्ठित रहता है तब तक उसकी साहित्यकार में गिनती नहीं है। और जैसे ही वह प्रतिष्ठित हुआ, कि वह मर गया।

रूस में १९१७ के बाद कोई बड़ा साहित्यकार पैदा नहीं हो सका। कुल कारण इतना है कि सब साहित्यकार प्रतिष्ठित हो गए। रूस में जितनी प्रतिष्ठा है साहित्यकार की उतनी दुनिया में कहीं भी नहीं है। इस समय रूस में सबसे ज्यादा जो प्रतिष्ठित वर्ग कहा जाना चाहिए, राजनीतिज्ञों के बाद, वह साहित्यकार का है। बल्कि एक अर्थ में उनसे भी ज्यादा प्रतिष्ठा उसकी है क्योंकि राजनीतिज्ञ तो बदलता रहता है, आज यह है, कल वह है। लेकिन वह अपनी जगह है। लेकिन बड़े आश्चर्य की बात है कि जहां १९१७ के पहले रूस ने दुनिया को श्रेष्ठतम साहित्यकार दिये — गोर्की, टालस्टाय, तुर्गनेव, चेखव या दोस्तोवास्की — ऐसे साहित्यकार दिये कि अगर दुनिया में १० बड़े नाम गिनने पड़ें तो उसमें पांच रूसी आ जायं। इतना बड़ा अनुपात जहां था वहां उस हैसियत का एक भी आदमी पिछले ५० साल में रूस ने पैदा नहीं किया। और वे सब अप्रतिष्ठित और परेशान लोग थे। और इधर ५० वर्षों में इतनी प्रतिष्ठा है साहित्यकार की, इतनी सुविधा है, इतना सम्मान है कि विद्रोह का स्वर हो नहीं सकता, सब सरकारी आदमी हैं।

तो रूस में क्रांति जैसी कोई बात नहीं चलती उसका एकमात्र कारण यह कि जो क्रांति की बात चला सकते थे वो साहित्यकार सरकार ने खरीदे हैं। और दुनिया में जो भी सरकार होशियार हैं, टोटलेटेरियन हैं, वह सबसे पहले साहित्यकार को खरीदने लगती हैं। हिन्दुस्तान में कोई क्रांति नहीं हो सकी। क्योंकि हिन्दुस्तान का साहित्यकार दरबारों से बंधा था। क्राति की आवाज कौन देगा ? भविष्य का इंगित कौन करेगा ? भविष्य के इंगित के लिए किसी के पास विजन (दृष्टि) तो होना चाहिए।

तो जिसके पास भविष्य का थोड़ा-सा स्वप्न होता है वह दरबार से बंधा है। वह राज्य से बंधा है। **मैं तो कहता हूं कि अगर हिन्दुस्तान के साहित्यकारों को अंग्रेज प्रसन्न कर सके होते तो हिन्दुस्तान को ज्यादा देर तक गुलाम रख सकते थे।** और हिन्दुस्तान की कांग्रेस भी अगर हिन्दुस्तान के साहित्यकारों को प्रसन्न रख सकती है तो ज्यादा देर टिक सकती है। क्योंकि सारा विद्रोह का स्वर साहित्य से आता है। असल में विद्रोह का स्वर ही सृजनात्मक स्वर है। तो जिसके पास नये के निर्माण की कल्पना है, वही पुराने को तोड़ने की बात कहता है। और जिसके पास भविष्य का कोई विजन है, वह अतीत को इंकार कर पाता है। असल में सृजन मौलिक रूप से रिबेलियस है। क्योंकि वह अनुकृति नहीं है, नया है।

तो साहित्यकार के ऊपर दायित्व तो बड़ा है। सबसे बड़ा दायित्व तो यह है कि वह भूल के भी प्रतिष्ठा के मोह में न पड़े। और भविष्य के लिए उत्सुक रहे, अन्यथा वह प्रतिष्ठित हो जायगा और वही मरी किताबें लिखेगा जैसे कि हमारे मुल्क में हजारों की तादाद में लिखी जा रही हैं जिनको कि अगर न लिखा होता तो कोई हर्ज न था, यानी जिनके न लिखे जाने से कोई कमी न होनी थी। कहीं लेकिन अभी भी मेरा खयाल यह है कि हिन्दुस्तान में जो बगावत के स्वर हैं उसमें साहित्यकार अग्रणी नहीं खड़ा हुआ है। आगे नहीं खड़ा है। बड़ी हैरानी की बात है कि **हिन्दुस्तान में बगावत का स्वर भी लड़कों के हाथ में है। यह दुखद है। और इसके नुकसान होंगे। क्योंकि लड़कों के पास सृजनात्मक जैसी क्षमता नहीं है। न हो सकती है। उम्र भी नहीं है अभी। वो विध्वंस तो कर लेंगे लेकिन सृजन के लिए उनके पास दृष्टि नहीं है।**

साहित्यकार जब इस बगावत और विद्रोह में आगे खड़ा होगा, साथी होगा तो हमें डर कम हो जायगा। चीजें टूटेंगी मगर बन भी सकेंगी। मगर वह साहित्यकार इनको गाली दे रहा है। कहीं नक्सलवादी को गाली दे रहा

है, कहीं इसको गाली दे रहा है, कहीं उसको गाली दे रहा है। उसको खयाल ही नहीं है कि उसे इनके साथ होना चाहिए। उसके साथ न होने से ही नुकसान होने वाला है। क्योंकि ये बच्चे तोड़ तो लेंगे — बना नहीं सकेंगे। इधर मुझे लगता है कि फ्रांस के साहित्यकार और विचारशील आदमी ने बड़ी हिम्मत का काम उठाया, और लड़कों के उपद्रव में वह आगे साथ आ गया, यह बहुत सूचक है, और इस लिहाज से हम बड़े दीन-दरिद्र हो जाते हैं। वो हो रहा है। चीजें टूटेंगी। वे अपने टूटने की जगह पहुंच गई हैं। पुराना मरेगा, उसकी मृत्यु हो चुकी है, सिर्फ लाश है। अब यह मौका है कि उस लाश से सम्मान लिये चले जायं कि भविष्य से। हालांकि भविष्य से सम्मान में प्रतीक्षा होगी। पुराना अभी सम्मान दे सकता है, इसी वक्त। तो इसलिए साहित्यकार को अगर बहुत नगद पुरस्कार चाहिए तब तो वह दायित्व को नहीं निभा सकेगा। और हम इतने गरीब हैं कि हम नगद पुरस्कार चाहते हैं। प्रतीक्षा की सामर्थ्य ही नहीं है कि दो घण्टे भी रुक जायं। ... लेकिन यह एक लिहाज से अच्छा है। इस लिहाज से अच्छा है कि हम कभी इतने मानसिक विरोधाभास में पड़े ही नहीं। इससे तकलीफ तो होगी, दुख भी होगा, चिन्ताएं भी बनेंगी, लेकिन उनसे कुछ और भी पैदा हो सकेगा, अच्छा। और शायद यही हमारी नियति है। इसके सिवा कोई रास्ता भी नहीं है इस मुल्क में।

मैं कई दफे हैरान हो जाता हूं, जैसे कि श्री मैथिलीशरणगुप्त, मेरी समझ के बाहर होता है कि क्या वो लिखे हैं। पुरातन भी नहीं, उसमें कुछ भी नहीं है। लेकिन अब कोई एक आदमी न होगा मुल्क में कि पूछे कि वे कैसे राष्ट्रकवि हैं। क्या मतलब है सब बकवासें लिखने का, तुकबन्दी से ज्यादा नहीं मालूम होता कुछ। अब एक चित्रकार अगर पुराने चित्रों की अनुकृति बनाए तो क्या कहेंगे, एक टेकनीशियन से ज्यादा ? लेकिन कुछ भी नया नहीं है। क्या वह नया चित्र नहीं बना सकता, मौलिक ? और जिसको फिर राष्ट्रकवि होना हो वह फिर वही करे। तो यह छोड़नी पड़ेगी फिक्र। और निन्दा झेलने की सामर्थ्य भी चाहिए। गाली पड़ेगी, उसका सुख लेना चाहिए। क्योंकि वह स्वाभाविक है।

● संकलन : *स्वामी अगेह भारती*,
जबलपुर

रजनीश के प्रति

अंतस्-सुमन

मैं औगुनिया

★

'आकुल' राजेन्द्र,
जबलपुर

★

मैं औगुनिया, गुन नहिं मोरे
तुम सब जाननहार, 'नीश प्रभु—
तुम सब जाननहार !
पूजै उसके, जो नहिं पूजै
उसके भी पालनहार 'नीश प्रभु—
उसके भी पालनहार !!

लाऊं फूल कहां से चन्दन
ना जानूं मैं आरती-वन्दन
सांस का चन्दन, नैन आरती—
प्राण फूल, ये काया अर्पन
पास नहीं कुछ और चढ़ाऊं !
तुम हो राखनहार 'नीश प्रभु—
तुम हो राखनहार !!

प्रभु जी अवगुन चित न धरोगे
मुझ दुखिया के कष्ट हरोगे
जाने-अजाने भूल करूं तो—
सिर पर मोरे हाथ रखोगे
तेरे हाथ खिलौना हूं मैं !
तुम हो खिलावनहार 'नीश प्रभु—
तुम हो खिलावनहार !!

जाने क्या-क्या जग समझाये
पर मोहे कछु समझ न आये
उर में लगन लगी है तुम्हरी—
लोक दिखावा मोहे न भाये
जीवन-नैया तेरे हवाले !
तुम हो खेवनहार 'नीश प्रभु—
तुम हो खेवनहार !!

ब्रह्मचर्य ..... ?

जीवन और साधना

भगवान रजनीश के सान्निध्य में जीवन के अनेक तलों पर साधना के दिव्य आयामों पर बहुविध जीवन्त दृष्टि पिछले अनेक वर्षों से प्रेमी साधक गण पा रहे हैं। भगवान की महा करुणा का प्रसाद क्षण-क्षण प्रतिपल अविरल बहता ही रहता है और सृजन के नए आयाम अनन्तगामी खुलते ही जाते हैं। हम साधक उनकी लीला के इस आनन्द–उत्सव में एक कदम भी चलकर प्रभु चेतना के आयाम में अपने को छोड़ें, तो बहुत कुछ है, जो घटित हो सकता है। इसी प्रभु इच्छा को साथ लेकर प्रस्तुत की जा रही है, भगवान की साधनामय जीवन-दृष्टि जो सन् १९६३-६४ के मध्य भगवान ने जबलपुर में दी थी।

यह भगवान की विभिन्न चर्चाओं से संकलित है, जिसे अपनी भाषा में प्रस्तुत किया है अरविंदकुमार ने।

मानव का यह एक सनातन प्रश्न रहा है : ब्रह्मचर्य की साधना कैसे हो ? इस बुनियादी जीवन के प्रश्न पर भगवान श्री की अनुभूतिगत जीवन साधना से प्राप्त व्यावहारिक विचारधारा है। उसमें पूर्ण वैज्ञानिक जीवन-दृष्टि की अभिव्यक्ति है। समय-समय पर आपके द्वारा ब्रह्मचर्य पर जो कहा गया है, उसे ही मैंने अपनी भाषा में बांधने का प्रयास किया है। जिसे मैं नीचे लिख रहा हूं।

▶

ब्रह्मचर्य पूर्ण जीवन-विज्ञान है। बिना उसके विज्ञान से परिचित हुये, जीवन में व्यर्थ ही उल्टा-सीधा करने का कोई अर्थ नहीं है। इससे मेरा जोर किसी भी क्षेत्र में पूर्ण विज्ञान से है। अनेकों व्यक्ति जो उदात्त आकांक्षा से भरकर ब्रह्मचर्य को साधने चलते हैं, वे पाते कि कहीं भी पहुंचना नहीं हुआ है, केवल व्यर्थ में एक आंतरिक संघर्ष में पड़ गये हैं। परिणाम यह होता है कि जीवन के अनेक वर्ष अवैज्ञानिक साधना में व्यतीत करने के बाद, साधना से हटना पड़ता है और सारी श्रेष्ठ आकांक्षायें तोड़ना पड़ती हैं। यह बहुत दुखद है और इससे हमारी श्रेष्ठ धारणाओं के प्रति आस्था खोती है। फिर हमारी श्रेष्ठ धारणायें ही टूटें—सो कोई अधिक दुख की बात नहीं है वरन् सबसे दुखद बात तो यह है कि **व्यक्ति की अपने पर से, स्वयं पर से आस्था उठ जाती है** और वह अपने को हीन मानने लगता है। यह सब बहुत घातक है। इससे एक विकृत व्यक्तित्व का निर्माण होता है। मेरा देखना है कि ठीक विज्ञान से परिचित होकर साधना प्रारंभ की जाये, तो सहज में ब्रह्मचर्य उपलब्ध हो जाता है।

● **क्या जीवन विज्ञान है — इस पर चर्चा करना उपादेय है।**

प्रकृति से मनुष्य में दो सम्भावनायें हैं। वह पशु से उठकर मनुष्य हुआ है। उसमें, उसके अचेतन मन में पाशविक वृत्तियां हैं और चेतन मन में, उदात्त जीवन में उठ जाने की आकांक्षा है। यह पाशविक वृत्तियों का मन ९ भाग है और उसके चेतन मन का भाग केवल १ हिस्सा है। यह मनुष्य का अपने हाथ का निर्माण है कि अब वह दिव्यता में उठकर पूर्ण भगवत् जीवन को उपलब्ध हो, या केवल अचेतन मन में खोकर सारे जीवन भर पशु-चेतना में उलझा रहे। इससे मैंने कहा, मनुष्य में संभावना है कि वह जिस क्षुद्र पशु से उठकर मनुष्य हुआ है— उसका भी अतिक्रमण कर ले और दिव्य जीवन को

भगवत् जीवन को उपलब्ध हो जाये। वह विराट सत्ता का अंग बन जाय। उसे अपनी दिशा निर्धारित करनी ही होगी। यदि दिशा निर्धारित नहीं होती तो प्रकृति अपने विकास को नहीं रोक सकती। वह सामान्य पाशविक वृत्तियों की तृप्ति में उलझा लेगी और मनुष्य को जो दिव्य में होने की संभावना उपलब्ध हुई थी— वह खो जायगी। प्रत्येक को अपने में इस संभावना को जानना है और अपनी दिशा निर्धारित करना है। कौन-सी दिशा व्यक्ति चुनता है, इस पर जीवन की साधना निर्भर करती है।

दिशा निर्धारण के बाद, वैज्ञानिक साधना का प्रश्न आता है, जो बहुत कीमती है। साधना पर चर्चा का प्रारंभ हो, इसके पूर्व व्यक्ति को जानना है, उसके भीतर विरोधी लिङ्ग के प्रति क्यों आकर्षण है ?

शरीर विज्ञान और मनोविज्ञान की आधुनिक शोधें अभी जो हुई हैं, उनसे इस बात को समझना आसान होगा। कोई भी मनुष्य जब मां के गर्भाधान में आता है, तो उसमें पुरुष के तत्व भी मौजूद होते हैं और स्त्री के तत्व भी मौजूद होते हैं। बाद उसके मन में जो प्रबल इच्छा होती है, उसके अनुसार उसके लिङ्ग का निर्धारण होता है। स्पष्ट है कि व्यक्ति को अपने जन्म के साथ भीतर विरोध मिलता है। बाह्य-चेतन मन में जो व्यक्ति नर होता उसके अचेतन में नारी के प्रति तीव्र आकर्षण होता है। बाह्य-चेतन मन में जो नारी होती उसके अचेतन मन में नर के प्रति तीव्र आकर्षण होता है। दोनों के मन में प्रकृति से विरोध मिला है। इससे नर और नारी में मिलने की तीव्र आकांक्षा है। यह सहज है। इसमें कुछ भला और बुरा नहीं है। प्रकृति का क्रम और विकास विरोध से चलता है। धन-विद्युत ऋण-विद्युत को आकर्षित करती है। चुम्बक का एक ध्रुव विरोधी ध्रुव को आकर्षित करता है। यह सारा प्रकृति का क्रम विरोध से चलता है। इसको हम विज्ञान की भाषा में कहें तो कहना होगा कि प्रत्येक प्राणी द्वि-लिङ्गीय (Bi-Sexual) है। भारत में जो नर और नारी का साथ-साथ प्राचीन समय में चित्रण किया गया है— वह अद्भुत है। उसका अर्थ है : पुरुष और प्रकृति साथ-साथ हैं। यह प्रकृति की पूर्ण सृजन की व्यवस्था है।

मनुष्य के इस द्वि-लिङ्गीय सिद्धांत को मैंने समझाया ताकि मैं समझा सकूं कि ब्रह्मचर्य को व्यक्ति कैसे उपलब्ध होता है। ब्रह्मचर्य में जब व्यक्ति होता है तो नर के अचेतन की नारी और चेतन का नर दोनों गिर जाते हैं— नारी का इसके ठीक विपरीत होता है। यह जानना कीमती होगा कि नर

और नारी या नारी और नर — मन में साथ-साथ चलते हैं और जब गिरते हैं— तो दोनों गिर जाते हैं।

● कैसे ब्रह्मचर्य उपलब्ध हो ?

ब्रह्मचर्य स्वयं में साधना नहीं है। ब्रह्मचर्य को साधना नहीं होता है। उसे बाहर से साध-साध कर लाया नहीं जा सकता है। जैसे फूल को बाहर से नहीं लगाया जा सकता है, कुछ और करना होता है, तब फूल आता है। ठीक ऐसे ही ब्रह्मचर्य को लाया (Cultivate) नहीं जा सकता है— भीतर कुछ और करना होता है, उसके परिणाम (Consequence) में ब्रह्मचर्य आता है। वह जब भीतर सारी क्रियायें शान्त होतीं, मन विसर्जित हो गया होता है— पूर्ण शान्त चेतना जब हो आती, चित्त से सारे वेग विसर्जित हो गए होते हैं— तब व्यक्ति को जो ब्रह्म की अनुभूति होती है, उसके परिणाम में ब्रह्मचर्य आता है। यह फूल रूप में अपने से खिल आता है। ...

इससे सामान्यतः जो साधक बाहर से ब्रह्मचर्य साधने चलते हैं और केवल वीर्य रक्षण तथा नर को नारी से, और नारी को नर से पृथक रखकर साधना करते हैं— वे भ्रान्त हैं। इससे नर के अचेतन मन की नारी विसर्जित नहीं होती, केवल दमित हो जाती है और नारी के अचेतन मन का नर केवल दमित हो जाता है। यह दमित मानसिक वेग कभी भी फूट आ सकता और सारे व्यक्तित्व को तोड़ जा सकता है। यह गलत है। इससे व्यक्तित्व सौंदर्य को उपलब्ध नहीं होता है, केवल कुरूपता को, तनाव को, पीड़ा को, संघर्ष को, दमन को उपलब्ध होता है। व्यक्तित्व भीतर से समग्र (Integrated) नहीं होता वरन् दमित (Suppressed) हो जाता है। ये दमित वेग बहुत विषाक्त जीवन को जन्म देने का कारण बनते हैं। इसे जानना बहुत जरूरी है। ...

मेरा देखना है कि व्यक्ति को प्रकृति ने गहरी मूर्छा दी है। वह प्रकृति की ओर से सम्मोहित (Hypnotised) है। यह सम्मोहन या मूर्छा— मन है। इसे विसर्जित करना है। मन को विसर्जित करने का साधनागत मार्ग है। मन से संघर्ष करके या मन के साथ चलके आज तक कोई भी मन से मुक्त नहीं हुआ है और न हुआ जा सकता है। मन के प्रति होश या जागरण (Awareness) लाना होता है। मन की प्रत्येक क्रियाओं में जागरण का या विवेक का ध्यान रखना जरूरी है। चित्त में जो भी उठे— उसे बिना भले

या बुरे का विचार किये, मात्र देखना है— यह देखना ही मन के विसर्जन का मार्ग बन जाता है। इससे मैं नहीं कहता कि चित्त-मुक्ति के लिये अच्छे या बुरे में चुनाव किया जाय, वरन् जो भी है उस सबके प्रति सम्यक् जागरण लाना होता है। इस सम्यक् जागरण के निरंतर प्रयोग से व्यक्ति अपनी सत्ता का परिचय पाता है और भीतर घनी शांति में हो आता है। व्यक्ति अपनी शुद्ध-सत्ता में होता है। ...

यह प्रयोग करने जैसा है। भगवान श्री का इस शुद्ध सत्ता में हो आने के लिए 'ध्यान-योग' का भी वैज्ञानिक प्रयोग है। इस प्रयोग पर अलग से ही चर्चा करना उपादेय होगा। केवल यहां इतना कह देना उचित होगा कि 'ध्यान' का अर्थ एकाग्रता नहीं है, वरन् जब चित्त पर चलते समस्त विचार शान्त होते हैं और व्यक्ति केवल अपनी चेतन-सत्ता के बोध-मात्र में भर हो आता है — तो ही वह 'ध्यान' में होता है।

मेरा देखना है कि व्यक्ति जब अपने भीतर की पूर्ण शुद्ध चैतन्य की स्थिति में होता है और समय के पार केवल आत्म-स्थित होता है—तो उसके जीवन में—अभय, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्य आचरण अपने से परिणाम में आता है। भीतर व्यक्ति आत्म-स्थित होता है, तो बाहर ये सारे परिणाम फूल रूप में अपने से घटते हैं। हम देखते महावीर को, बुद्ध को, ईसा को और उनसे जो बाहर आचरण-दिव्यता का प्रगट होता है, उसमें ही साधारण साधक उलझ जाता है—उसे साधक बाहर से साध-साध कर लाना चाहता है और यहीं उसकी बड़ी भूल हो जाती है। जानना है कि सारे मुक्त जीवन पुरुषों का भीतर चेतना में उतरना पहिले हुआ था, आत्म-स्थित होना पहले हुआ था, बाद अपने से दिव्य आचरण फलित हुआ था।

इससे बिना पूर्ण विज्ञान को जाने, व्यर्थ भुलावा में डालकर जीवन नहीं गंवाना है। उसका सार्थक उपयोग करना है। यह वैज्ञानिक होगा कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी चेतना में परिवर्तन के प्रयोग प्रारंभ कर दे और धीरे-धीरे उस शान्त चैतन्य की ओर विकास (Growth) होता रहे। कभी अनायास अप्रतीक्षित क्षणों में भीतर जब घनी शान्ति होगी, कोई क्रिया भीतर शेष न रहेगी — तो अपने से परिणाम में जो होगा स्थायी होगा। जीवन के बीच व्यक्ति जीवन-मुक्त हो रहेगा।

मैं इससे जीवन के विरोध में कोई विकास नहीं देखता हूं। जीवन के तो पूरे क्षेत्र में व्यक्ति हो, उसके सारे बाह्य सम्बन्ध हों, केवल भीतर शान्ति

का प्रयोग भर करना है। तब ही केवल जीवन की सारे क्षेत्रों में पूर्ण सुन्दर अभिव्यक्ति होती है। जीवन पूर्ण होता है। मैं सहज में समग्र जीवन को स्वीकार करके चलता हूं और इसी सहज जीवन के बीच वैज्ञानिक जीवन-साधना को इंगित करता हूं—जो इससे होना होगा सहज में होगा। इससे नर को नारी से और नारी को नर से पलायन नहीं करना है, वरन् साथ रहके मन की जो भी वासना की मूर्च्छित क्रियायें हैं, उनके बीच होश को स्थान देना है। इस सम्यक् जागरण से अपने से कभी भीतर पूर्ण शान्त चित्त में जो व्यर्थ होगा—अपने से छूट जायगा। तब जैसे पका पत्ता डाल से झर जाता, वैसे ही बाहर अपने से नारी में या नर में जो आकर्षण है वह विसर्जित हो जाता है। तब यह संसार ठीक ऐसा ही होता है, हम दूसरे आदमी हो गये होते हैं। हमारा रस चला गया होता है। अब भी बाहर नारी होगी, नर होगा—उनके सौंदर्य का बोध होगा, मात्र जो वासना का आकर्षण है—वह भर नहीं होगा। सारी क्रियाओं के बीच पूर्ण जागृति होगी। व्यक्तित्व की पूर्ण सौंदर्य में अभिव्यक्ति होगी। मेरा तो जानना ही ऐसा हो गया कि जो साधना व्यक्तिव में सौंदर्य न लाये—वह विकृत साधना है। सौंदर्य तो साधना की कसौटी है। मैं कहीं भी इससे जीवन के विरोध में सहमत नहीं हूं और जो भी व्यक्ति जीवन में विरोध से चलता, बाहर कुछ छोड़के चलने को कहता है, वह नैतिक (Moral) हो सकता है, आध्यात्मिक (Spritual) होने से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

भारत में हमने एक बड़ी गलती की है कि नीति के साधकों को जिनकी आंतरिक चेतना के जगत में कोई समझ नहीं थी—उन्हें धार्मिक मानकर—अनेकों जीवन के साथ ना-समझी की है। क्योंकि 'मेरा' देखना है कि नर नारी के साथ तृप्त होने की आकांक्षा करे और फिर उसे छोड़े—तो जानना है कि उसके पकड़ने में भी नारी में नर को या नर में नारी को मूल्य था, और छोड़ने में भी हम मूल्य स्वीकार कर रहे हैं—अन्यथा फिर छोड़ने की क्या बात थी। इससे छोड़ना और पकड़ना मूल्य का नहीं है। भीतर रस विसर्जित हो जाये तो अपने से जो मन पकड़ने में और छोड़ने में प्रवृत होता था, अब रहा ही नहीं तो बाहर से बात ही समाप्त हो जाती है। इससे पूर्ण साधुत्व को उपलब्ध हुआ मैं उसी को मानता हूं, जिसके छोड़ने-पकड़ने की वृत्ति ही नहीं रही—जो अब भीतर इतना शान्त है कि बाहर उसे कुछ पकड़ने और छोड़ने जैसा प्रश्न रहा ही नहीं है। इतना शान्त अपने में होना

कीमती है, शेष सब व्यर्थ है, कचरा है, पांडित्य है और उसका वास्तविक जीवन से कोई अर्थ नहीं है।

यह संभव है कि कोई पुरुष या नारी—अपने बाह्य जीवन के संबंधों में बिना आये, वासना से मुक्त हो सकें। इसके लिये भी मैं विरोध से या दमन से चलने को नहीं कहता हूं, वरन् चित्त के सारे प्रवाहों के बीच केवल दृष्टा-बोध ही कभी बाहर चलते समस्त दृश्यों को विसर्जित कर देगा और जो चेतना निरंतर बाहर के दृश्यों को देखने में उलझी थी—वह अपने पर लौटकर—'स्व-स्थित' हो रहेगी।

पूर्ण आंतरिक चेतना के जीवन में हो आया व्यक्ति ही—केवल ब्रह्मचर्य को परिणाम रूप में उपलब्ध होता है। भीतर चेतना—सम-स्वरता में संगीतमय होती और बाहर परिणाम में अपने से पूर्ण सौंदर्य अभिव्यक्त होता है। जो जीवन सीमाओं से घिरा था असीम में होकर दिव्य के प्रगटीकरण का मार्ग बन जाता है। इससे ही मेरा देखना है कि केवल शरीर की सीमाओं से जो दाम्पत्य जीवन प्रारंभ होता है, वह अपनी अंतिम परिणति में पूर्ण दिव्य को प्रगट करने का मार्ग न बने—तो जानना चाहिये कि ऐसा दाम्पत्य जीवन व्यर्थ गया। जो प्रेम शरीर से शुरू होता है, वह निरंतर सम्यक् जागरण की दृष्टा-बोध साधना से असीम में व्याप्त चैतन्य के प्रति समर्पित होकर सारी सीमायें तोड़कर सबमें व्याप्त हो जाता है, उसके लिये ही शरीर का प्रेम मार्ग है। जानना है जो भी अभी मार्ग में रोड़े हैं वे ही साधना में सीढ़ी बन जाते हैं। उनका वैज्ञानिक उपयोग मालूम होना जरूरी है।

अन्तिम रूप से मैं जगत में कुछ भी भला और बुरा करके नहीं जान पाता। देखता, कि मात्र सब कुछ तथ्य रूप में है। वासना में सीमाओं की उत्पीड़न है, इससे ही ब्रह्म तक उठने की व्यक्ति की आकांक्षा है। इससे जानना है कि व्यक्ति जितना अपने को खुले मन से वासना में जागृत कर सकता है, उसके उतने ही उठने की संभावना है। इससे मैंने कहना शुरू किया कि यह मनुष्य की महिमा है कि वह पाप कर सकता है। क्योंकि जो पाप के अंधेरे में गिर सकता है, वही पवित्रता के शिखरों पर भी उठ सकता है।

◀

● भाव संकलन : *अरविन्दकुमार*, जबलपुर

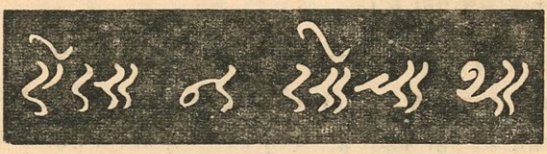

भगवान श्री के उद्‌बोधनों के वे अंश जहां हम सहसा ठिठककर रुक जाते हैं और उनके अभिनव दृष्टिकोण को समझने-- मनन करने को बाध्य हो जाते हैं और अपने आप से कह उठते हैं— 'ऐसा न सोचा था !'--सं०

● इस जगत में अस्तित्व के अतिरिक्त और कुछ भी स्वयंभू नहीं है। यदि हम जगत के अस्तित्व में खोजते हुए वहां तक पहुंच जायं उस आधार तक, जिसे किसी ने भी नहीं बनाया, जो है सदा से, तो हम परमात्मा को पा लेंगे। और अगर हम अपने भीतर प्रवेश कर खोजते चले जायं और वहां पहुंच जायं जो अनबना है, स्वयं भू है, तो हम आत्मा को पा लेंगे। आत्मा और परमात्मा दो बातें नहीं हैं— एक ही वस्तु को दो दिशाओं से दिये गये नाम हैं। आत्मा, परमात्मा ही है भीतर की तरफ से पकड़ी गयी। परमात्मा, आत्मा ही है बाहर की तरफ से खोजा गया।

● पश्चिम के वैज्ञानिक, जीवशास्त्री भूल में हैं यदि वे ऐसा सोचते कि 'टेस्टट्यूब' में शरीर (जो कि सृष्ट है) को निर्मित करके आत्मवादियों को आखिरी पराजय दे देंगे; क्योंकि आत्मवादी का कभी आग्रह नहीं रहा कि शरीर आत्मा है, बल्कि वह असृष्ट को आत्मा मानता है। किसी दिन वैज्ञानिक यह कर सके तो उससे सिर्फ उपनिषद का यह सूत्र ही सिद्ध होगा कि देखो, यह शरीर भी आत्मा नहीं है। मां-पिता के रासायनिक तत्व शरीर के पहले घटक का निर्माण करते हैं, तो उसमें आत्मा प्रवेश करती है; कल यदि प्रयोगशाला में वह घटक, वह सैल निर्मित हो गया, तो वहां भी आत्मा प्रवेश कर जायगी। लेकिन वह पहला रासायनिक घटक आत्मा नहीं है, वह निर्मित है— स्वयंभू नहीं है, किसी के द्वारा बना है। विज्ञान जितने गहरे तक निर्माण कर ले, उतना धर्म के पक्ष में है; क्योंकि उतने दूर तक तय हो गया है कि आत्मतत्त्व नहीं है, आत्मतत्त्व और आगे है। निश्चित ही स्वयंभू— मूल में जो है, इस अस्तित्व के होने

के लिए कहीं कोई आधारभूत, 'अल्टीमेट', आत्यंतिक तत्व तो चाहिए जो अनिर्मित हो। **अगर हर चीज को निर्मित होने की जरूरत पड़े तो निर्माण असंभव हो जायगा।**

- आत्मतत्व स्वयंभू है, ऐसा न कहकर ज्यादा वैज्ञानिक होगा कहना कि हम कहें, जो स्वयंभू है वह आत्मतत्व है। ऐसा न कहकर कि परमात्मा को किसी ने नहीं बनाया, ये कहना ज्यादा वैज्ञानिक होगा कि **जिसे किसी ने नहीं बनाया, जो अनबना है, हम उसे ही परमात्मा कहते हैं।**

- विज्ञान ने १०८ तत्व खोजकर पंचतत्व के प्राचीन सिद्धांत को गलत कहा तो नासमझ धार्मिक बड़े परेशान हुए कि धर्म की धारणा सब गड़बड़ हो गई। गलती यह हो गई कि पुराने विज्ञान की किताबें अलग नहीं होती थीं, वरन धर्म की किताबों में ही सब कुछ लिखा जाता था। **लेकिन विज्ञान की नई खोज पुराने विज्ञान को गलत करती है, विज्ञान की कोई खोज धर्म को गलत नहीं कर सकती; क्योंकि दोनों के आयाम अलग हैं।** कोई कितनी अच्छी कविता निर्मित कर ले, किसी गणित के सिद्धांत को गलत नहीं कर सकता; क्योंकि दोनों में कोई संगति नहीं है— आयाम अलग हैं जो कहीं कटते नहीं, न कहीं छूते ही; रेल की पटरियों की तरह सामानांतर दौड़ते हैं और अगर मिलते हुए मालूम पड़ते हैं, तो वह आपकी भ्रांति मात्र है। **विज्ञान कभी धर्म को गलत नहीं कर सकता और न धर्म कभी विज्ञान को।** एक सौ आठ तत्व समान घटक–विद्युत (इलेक्ट्रान) — से बने हैं, इससे विज्ञान को नयी अनुभूति हुई कि तत्व तो सिर्फ विद्युत है— एक ही और वह मानने को तैयार हो गया कि विद्युत अभी अनिर्मित है — स्वयंभू है। **हम तो सिर्फ इतना ही कर सकते हैं— या तो चीजों को जोड़ सकते हैं या तोड़ सकते हैं; सृजन नहीं कर सकते।**

- आत्मा है सदा शुद्ध ! सदा निर्दोष ! हमारी सारी अशुद्धि हमारी भ्रांति है। जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब गदे डबरे में भी उतना ही शुद्ध है जितना कि शुद्ध पानी में। ऐसे ही आत्मतत्व रावण के भीतर भी उतना ही शुद्ध है जितना राम के भीतर।

- शुद्ध होना कोई सांयोगिक लक्षण नहीं, उसका स्वभाव लक्षण है। बेईमानी ऐक्सीडेंटल है, सांयोगिक है; स्वरूपगत नहीं है। बेईमान से बेईमान आदमी भी चौबीस घंटे बेईमान नहीं रह सकता; क्योंकि बेईमानी अर्जित

है, स्वभावगत नहीं और इसलिए बेईमान से बेईमान आदमी किन्हीं के साथ ईमानदार होता है। और कई बार तो बेईमान आदमी आपस में इतने ईमानदार होते हैं उतने ईमानदार आदमी आपस में ईमानदार नहीं होते; क्योंकि वहां ईमानदारी भी अर्जित है। क्रोध अर्जित है, सांयोगिक है, इसलिये आप चौबीस घंटे क्रोध में नहीं रह सकते; लेकिन क्षमा में हो सकते हैं। घृणा में चौबीस घंटे जीना हो तो नहीं जी सकते; लेकिन प्रेम में जीना हो तो जी सकते हैं।

● आत्मा शुद्ध है, इसका यह अर्थ नहीं कि वह कभी अशुद्ध हो जाती है और फिर हमें शुद्ध करना पड़ता है। अगर आत्मा अशुद्ध हो सके तो फिर हम शुद्ध न कर पायेंगे। फिर कौन शुद्ध करेगा जब हम ही अशुद्ध हो गये। नहीं, आत्मा शुद्ध है ही।

● संचयन–सम्पादन :
'आकुल' राजेन्द्र,
जबलपुर

नई ज्योतियां ! दिव्य वाणी ! जीवन संगीत से आलोकित !
नई साज सज्जा में
भगवान रजनीश के विचारों की आध्यात्मिक त्रैमासिक संकलन पत्रिका
ज्योति शिखा
संपादन : मा योग क्रांति, स्वामी कृष्ण कबीर
वार्षिक : मूल्य ८ रु.
संपर्क : जीवन जागृति केन्द्र,
३१, इजरायल मोहल्ला, भगवान भुवन,
मस्जिद बंदर रोड, बम्बई–९
Phone : 327618

आमंत्रण : रजनीश को

हे रजनीश !
क्या तुम एक बार फिर नहीं हमारे साथ
रास रचावोगे
उज्ज्वल चंद्रमा की चंदन-चांदनी में ...
... ... ?
आज [तो] असंख्य राधाएं
तुम्हारे पथ पर
अपनी प्रेम-विह्वल गीली पलकों से
बुहारी लगा रही हैं,
क्या तुम देखते नहीं
उनके कंचन-देह सूख गए हैं
तपन-भरी दोपहरी में खड़े अनवरत
तुम्हारी बाट जोहते ?
तुम अपार ज्ञान की अकथ्य बातें कहते हो,
अज्ञात की ओर इंगित करते हुए
कहते हो : "ध्यान में डूबो ।
ध्यान के अतिरिक्त और कोई
मार्ग नहीं है ।
उससे ही तुम स्वयं तक और मुझ तक
और सर्व तक पहुंच सकोगे"
हमें तुम्हारी ये बातें भाती भी हैं खूब,
मगर ध्यान के माध्यम से निर्गुण-
निराकार-शून्य में
तिरोहित हो जाना कितनी कठिन
बात है !
हां, वह बहुत कठिन बात है शायद ..

लेकिन मेरे मीत !
जो सहज सुलभ है
क्या उस सुवर्ण-भाग्य से हमें वंचित
रह जाने दोगे ?
क्या तुम हमारे साथ
यमुना के सदा कुंवारे तट पर
नाचोगे नहीं ?
यमुना बेचारी भी तो तुम्हारी राह
देख-देख रीत गई है
क्या उसे रीती ही रह जाने दोगे ?
बोलो मेरे प्राण !
क्या हमारे साथ रास नहीं रचावोगे
फिर एक बार ...
तुम तो पहचान ही गए होगे कान्ह !
हम वही राधा और वही गोपिकाएं हैं
आज तुम्हारे साथ फिर आये हैं
और सदा ही आते रहेंगे
ताकि तुम कान्ह कहावो ...
तुम्हें ज्ञान की अथाह, अचिंत्य बातों से
समय कब मिलेगा
कि तुम्हारी अमृत उंगलियों को
अपने सुकोमल हाथों में थाम
तुम्हारे साथ हम नाचेंगे ...
बस नाचेंगे...ब्रह्म व निर्वाण आदि की
आकांक्षा व स्मरण से मुक्त ...
सिर्फ नाचेंगे !!

● *स्वामी अगेह भारती*, जबलपुर

भगवान रजनीश के अमृत सान्निध्य में
आनन्द शिला ध्यान शिविर
दिनांक ६ फरवरी से १७ फरवरी १९७३ तक

कार्यक्रम : प्रवचन, सक्रिय ध्यान, कीर्त्तन ध्यान, त्राटक ध्यान
प्रभु-चिकित्सा ।

प्रवचन विषय : हेलेना पेट्रोव्हना ब्लावट्स्की की अमर कृति
"समाधि के सप्त द्वार"

स्थल : आनन्द शिला, त्रिमूर्ति हिल, अंबरनाथ, बम्बई
प्रवेश शुल्क ४० रु०

आवास व्यवस्था : (१)–टेंट का एक व्यक्ति का एक दिवस का ३ रु०
(२)–७०० रु० देने पर अर्ध-स्थायी काटेज जो ५ वर्षों तक सुरक्षित रहेगी ।
(३)–टेन्टों में पानी-बिजली की व्यवस्था रहेगी ।
(४)–प्रतिदिन का दोनों समय का भोजन तथा चाय ५ रु० ।
(५)–आनन्द शिला के लिए अंबरनाथ तथा कल्याण से टैक्सी मिलेंगी ।
(६)–पूर्व से सूचना देने पर कल्याण स्टेशन से आने-जाने की बस व्यवस्था होगी जिसका ५ रु० मार्ग-व्यय होगा ।

विशेष सूचना : साधक अपने साथ ओढ़ने-बिछाने के वस्त्र लावें ।
[शिविर में पहुंचने की सूचना प्रवेश शुल्क तथा आवास के शुल्क सहित आनन्द शिला कार्यालय, १८, पंचशील 'सी' रोड, चर्चगेट, बम्बई-२० को भेजें ।]

युक्रान्द

फरवरी १९७३